साधना से सिद्धि
– श्रीराम शर्मा आचार्य

साधना से सिद्धि

श्रद्धा, प्रज्ञा एवं निष्ठा का तत्त्वदर्शन

*

लेखक
ब्रह्मवर्चस

*

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना प्रेस
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०– २५३०२००

२००९ — मूल्य : २०.०० रुपये

अनुक्रमणिका

व्यक्तित्व को सुसंस्कारित बना लेना ही सच्ची साधना

साधना का अर्थ है–अपने आपे को साधना । जिन देवी–देवताओं की साधना की जाती है, वस्तुतः अपनी ही विभूतियाँ एवं सत्प्रवृत्तियाँ हैं । इन विशेषताओं के प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहने के कारण हम दीन–दरिद्र बने रहते हैं किन्तु जब वे जागृत, प्रखर एवं सक्रिय बन जाती हैं, तो अनुभव होता है कि हम ऋद्धि–सिद्धियों से भरे–पूरे हैं । मनुष्य की मूल सत्ता एक जीवन्त कल्पवृक्ष की तरह है । ईश्वर ने उसे बहुत कुछ–सब कुछ देकर इस संसार में भेजा है । समुद्र तल में भरे मणि–मुक्ताओं की तरह–भूतल में दबी रत्न राशि की तरह मानवी सत्ता में भी असंख्य संपदाओं के भण्डार भरे पड़े हैं । किन्तु वे सर्वसुलभ नहीं हैं, प्रयत्नपूर्वक उन्हें खोजना–खोदना पड़ता है । जो इसके लिये पुरुषार्थ नहीं जुटा पाते, वे खाली हाथ रहते हैं किन्तु जो प्रयत्न करते हैं उनके लिये किसी भी सफलता की कमी नहीं रहती । इसी प्रयत्नशीलता का नाम साधना है । स्पष्ट है कि अपने आप को सुविकसित, समुन्नत एवं सुसंस्कृत बना लेना ही देवाराधना का एक मात्र उद्देश्य है । अपनी ही सत्प्रवृत्तियों को अलंकारिक भाषा में देव–शक्तियाँ कहा गया है और उनकी विशेषताओं के अनुरूप उनके स्वरूप, वाहन, आयुध, अलंकार आदि का निर्धारण किया गया है ।

साधना उपासना के क्रिया–कृत्य में यही रहस्यमय संकेत–सन्देश सन्निहित है कि हम अपने व्यक्तित्व को किस प्रकार समुन्नत करें और जो प्रसुप्त पड़ा है, उसे जागृत करने के लिये क्या कदम उठायें ? सच्ची साधना वही है, जिसमें देवता की मनुहार करने के माध्यम से आत्म निर्माण की दूरगामी योजना तैयार की जाती और सुव्यवस्था बनायी जाती है ।

मानवी व्यक्तित्व में सन्निहित सम्भावनाओं का कोई पारावार नहीं । ईश्वर का ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते उसे अपने पिता से सभी विभूतियाँ उत्तराधिकार में मिली हैं । व्यवस्था नियन्त्रण इतना ही है कि जब उस रत्न राशि की उपयोगिता–आवश्यकता समझ में आ जाय

तभी वे मिल सकें । पात्रता के अनुरूप अनुदान मिलने की सुव्यवस्था अनादिकाल से चली आ रही है । इसी परीक्षा में खरे उतरने पर लोग एक से एक बढ़कर अनुदान प्राप्त करते रहे हैं । साधना के फलस्वरूप सिद्धि मिलने का सिद्धान्त अकाट्य है । देवी–देवताओं को माध्यम बनाकर वस्तुतः हम अपने ही व्यक्तित्व की साधना करते हैं । अनगढ़ आदतों की बेतुकी इच्छाओं और अस्तव्यस्त विचारणाओं को सभ्यता एवं संस्कृति के शिकंजे में कस कर ही मनुष्य ने प्रगतिशीलता का वरदान पाया है । इसी परम्परा को जो अपने व्यक्तिगत जीवन में जितना क्रियान्वित कर लेता है, वह उतना ही श्रेयाधिकारी बनता है ।

मानवी व्यक्तित्व एक प्रकार का उद्यान है । उसके साथ अनेकों आत्मिक और भौतिक विशेषतायें जुड़ी हुई हैं । उनमें से यदि कुछ को क्रमबद्ध, व्यवस्थित और विकसित बनाया जा सके, तो उनके स्वादिष्ट फल खाते–खाते गहरी तृप्ति का आनन्द मिलता है, पर यदि चित्तगत वृत्तियों को शरीरगत प्रवृत्तियों को ऐसे ही अनियंत्रित छोड़ दिया जाय, तो वे भौंड़े, गँवारू एवं उद्धत स्तर पर बढ़ती हैं और दिशा विहीन उच्छृंखलता के कारण जंगली झाड़ियों की तरह उस समूचे क्षेत्र को अगम्य एवं कंटकाकीर्ण बना देती हैं ।

जीवन कल्प–वृक्ष की तरह असंख्यों सत्परिणामों से भरा–पूरा है, पर उसका लाभ मिलता तभी है, जब उसे ठीक तरह साधा, सँभाला जाय । इस क्षेत्र की सुव्यवस्था के लिये की गयी चेष्टा को साधना कहते हैं । कितने ही देवी–देवतओं की साधना की जाती है और उससे कतिपय वरदान पाने की बात पर विश्वास किया जाता है । इस मान्यता के पीछे सत्य और तथ्य इतना ही है कि इस मार्ग पर चलते हुए अन्तःक्षेत्र की श्रद्धा को विकसित किया जाता है । आदतों को नियंत्रित किया जाता है । इन सबका मिला–जुला परिणाम व्यक्तित्व पर चढ़ी हुई दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण करने तथा सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव का अंग बनाने में सहायक सिद्ध होता है । सुसंस्कारों का अभिवर्धन प्रत्यक्षतः दैवी वरदान है । उसके मूल्य पर हर व्यक्ति अभीष्ट प्रयोजन की दिशा में अग्रसर हो सकता है ।

साधना आत्मिक क्षेत्र में भी होती है और भौतिक क्षेत्र में भी । कदम जिस भी दिशा में बढ़ते हैं, प्रगति उसी ओर होती है । अपनी

सतर्कता पूर्ण सुव्यवस्था जिस भी मार्ग पर गतिशील कर दी जाय उसी में एक के बाद एक सफलता के मील पत्थर मिलते चले जायेंगे ।

साधना का महत्व किसान जानता है। पूरे वर्ष अपने खेत की मिट्टी के साथ अनवरत गति से लिपटा रहता है और फसल को स्वेद कणों से नित्य ही सींचता रहता है । सर्दी–गर्मी की परवाह नहीं–जुकाम–खाँसी की चिन्ता नहीं । शरीर की तरह ही खेत उसका कर्मक्षेत्र होता है। एक–एक पौधे पर नजर रहती है । खाद, पानी, निराई, गुड़ाई से लेकर रखवाली तक के अनेकों कार्य करने से पूर्व वह आवश्यकता समझता है और किसी के निर्देश से नहीं अपनी गति से ही निर्णय करता है कि कब, क्या और कैसे किया जाना चाहिये । किसी के दबाव से नहीं–अपनी इच्छा और प्रेरणा से ही उसे खेत की, उसे सँभालने वाले बैलों की, हल–कुदाल आदि सम्बद्ध उपकरणों की व्यवस्था जुटाये रहने की सूझबूझ सहज ही उठती और स्वसंचालित रूप से गतिशील होती रहती है । यह सब होता है, बिना थके, बिना ऊबे, बिना अधीर हुए । आज का श्रम कल ही फलप्रद होना चाहिये, इसका आग्रह उसे तनिक भी नहीं होता । फसल अपने समय पर पकेगी–तब तक उसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा ही करनी होगी, यह जानने के कारण अनाज की ढेरी कोठे में भरने की आतुरता भी उसे नहीं होती । इतने मन अनाज उसे निश्चित रूप से होना चाहिये, इसके लम्बे–चौड़े मनसूबे बाँधना भी उसे अनावश्यक प्रतीत होता है । मनोयोगपूर्वक सतत् श्रम की साधना चलती ही रहती है, विघ्न–अवरोध न आते हों सो बात भी नहीं–उनसे भी जैसे बनता है निपटता ही रहता है, पर उपेक्षा कभी भी खेत की नहीं होती । उसकी आवश्यकता पूरी किये बिना चैन ही नहीं पड़ता । समयानुसार फसल पकती भी है । अनाज भी पैदा होता है । उसे ईश्वर को धन्यवाद देता हुआ घर ले जाता है । कितने मन अनाज पैदा होना है यह कभी सोचा ही नहीं, तो असंतोष का कोई कारण भी नहीं । जो मिला उसे ईश्वरीय उपहार समझा गया । यही है किसान की साधना जिसे वह होश सँभालने के दिन से लेकर मरण पर्यन्त सतत् निष्ठा के साथ चलाता ही रहता है । न विश्राम, न थकान, न ऊब, न अन्यमनस्कता । साधना कैसे की जाती है और साधक को कैसा होना चाहिये, यह किसान से सीखा जा सकता है ।

साधना का क्षेत्र अन्तःजगत है । अपने ही भीतर इतने खजाने दबे–गढ़े हैं कि उन्हें उखाड़ लेने पर ही कुबेर जितना सुसंपन्न बना जा सकता है । फिर किसी बाहर वाले से माँगने–जाँचने की दीनता दिखाकर आत्म–सम्मान क्यों गँवाया जाय ? भीतरी विशिष्ट क्षमताओं को ही तत्वदर्शियों ने देवी–देवता माना है और बाह्योपचारों के माध्यम से अन्तःसंस्थान के भाण्डागार को करतलगत करने का विधि–विधान बताया है । शारीरिक बल वृद्धि के लिये डम्बल, मुद्गर उठाने–घुमाने जैसे कर्मकाण्ड करने पड़ते हैं । बल इन उपकरणों में कहाँ होता है ? वह तो शरीर की मांसपेशियों से उभरता है । इस उभार में व्यायामशाला के साधन–प्रसाधन सहायता भर करते हैं, उनसे मिलता कुछ नहीं । जो मिलता है, वह भीतर से ही मिलता है । ठीक यही बात आत्म साधना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है ।

व्यायामशाला में नित नये उत्साह के साथ जूझते रहने वाले पहलवान की मनःस्थिति और गतिविधि का यदि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया जाय, तो आत्म–साधना के विद्यार्थी को विदित हो सकता है कि उसे आखिर करना क्या पड़ेगा ? पहलवान मात्र कसरत करके ही निश्चिन्त नहीं हो जाता वरन् पौष्टिक भोजन की, संयम ब्रह्मचर्य की, तेल मालिश की, उपयुक्त दिनचर्या की, प्रसन्नता–निश्चिन्तता की भी व्यवस्था करता है । यदि उन सब बातों की उपेक्षा की जाय और मात्र दण्ड–बैठकों को ही जादू की छड़ी मान लिया जाय, तो सफलता दूर की चीज ही बनी रहेगी । एकाकी कसरत से कुछ भला न हो सकेगा । उपासनात्मक विधि–विधान की अपनी ही महत्ता है, पर उतने भर से काम नहीं चलता । चिन्तन और कर्तृत्व की रीति–नीति भी लक्ष्य के अनुरूप ही ढालनी पड़ेगी ।

गायक और वादक एक दिन में अपने विषय में पारंगत नहीं हो जाते, उन्हें स्वर की, नाद की साधना नित्य निरन्तर करनी पड़ती है । 'रियाज' न किया जाय, तो गायक का स्वर छितराने लगता है और वादक की उँगलियाँ जकड़–मकड़ दिखाने लगती हैं । संगीत सम्मेलन तो यदा–कदा ही होते हैं, पर वहाँ तक पहुँचाने वाली स्वर साधना को नित्य ही अपनाये रहना पड़ता है । गीत सुनने वालों ने कितनी प्रशंसा की और कितनी धनराशि दी यह बात गौण रहती है ।

संगीत साधक आत्म-तुष्टि की नित्य मिलने वाली प्रसन्नता को ही पर्याप्त मानता है और बाहर से कुछ भी न मिले तो भी वह एकान्त जंगल की किसी कुटिया में रहकर भी आजीवन बिना ऊबे संगीत साधना करता रह सकता है । आत्म-साधक की मनःस्थिति इतनी तो होनी ही चाहिये ।

नर्तक, अभिनेता अपना अभ्यास जारी रखते हैं । शिल्पी और कलाकार जानते हैं कि उन्हें अपने प्रयोजन के लिये नित्य नियमित अभ्यास करना चाहिये । फौजी सैनिकों को अनिवार्य रूप से 'परेड' करनी पड़ती है । अभ्यास टूट जाने पर न तो गोली का निशाना ठीक बैठता है और न मोर्चे पर लड़ने के लिये जिस कौशल की आवश्यकता पड़ती है वह हाथ रहता है । किसी विशेष प्रयोजन के लिये नियत संख्या तथा नियत अवधि की साधना से किसी पूजा प्रयोजन का संकल्प लेने वाला समाधान हो सकता है, पर आत्म साधक को इतने भर से संतोष नहीं मिलता । वह जानता है कि प्यास बुझाने के लिये रोज ही कुएँ से पानी खींचना पड़ता है और सफाई रखने के लिये रोज ही कमरे को बुहारना पड़ता है । मानवी सत्ता की स्थिति भी ऐसी ही है, उसकी हीरों भरी खदान को हर दिन खोदना, कुरेदना चाहिये । तभी नित्य नये उपहार मिलने संभव होंगे । शरीर को स्नान कराना, दाँत माजना, कपड़े धोना नित्य कर्म है । उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती । संसार का विक्षोभ भरा वातावरण हर किसी की अन्तःचेतना को प्रभावित करता है । उसकी नित्य सफाई न की जाय, तो क्रमशः गन्दगी बढ़ती ही चली जायेगी और अन्ततः कोई बड़ी विपत्ति खड़ी करेगी ।

शरीर को जीवित और सुसंचालित रखने के लिये दो कार्य आवश्यक हैं एक भोजन, दूसरा मल त्याग । इनमें से एक की भी उपेक्षा नहीं हो सकती । भोजन न किया जाय तो पोषण के लिये नितान्त आवश्यक रस रक्त की नयी उत्पत्ति न होगी और पुराने संचित रक्त की पूँजी समाप्त होते ही काया दुर्बल होकर मृत्यु के मुख में चली जायेगी । इसी प्रकार मल त्याग न करने पर नित्य उत्पन्न होने वाले विष जमा होते और बढ़ते चले जायेंगे और उनका विस्फोट अनेक उपद्रवों के रूप में प्रकट होकर कष्टकारक मृत्यु का आधार बनेगा । पंच भौतिक शरीर की तरह सूक्ष्म शरीर की दिव्य चेतना की

भी कुछ आवश्यकतायें हैं । उसे भी भूख लगती है । उस पर भी मल चढ़ते हैं और सफाई की आवश्यकता पड़ती है, इन दोनों प्रयोजनों को पूरा करने वाली प्रक्रिया साधना कही जाती है । उससे सत्प्रवृत्तियों को जगाकर वह सब उगाया, पकाया जा सकता है, जिससे आत्मा की भूख बुझती है और जीवन भूमि में हरी–भरी फसल लहलहाती है । साधना से उन मलीनताओं, मनोविकारों का निष्कासन होता है, जो प्रगति के हर क्षेत्र में चट्टान बनकर अड़े रहते हैं और पग–पग पर व्यवधान उत्पन्न करते रहते हैं । साधना में प्रयुक्त होने वाली आत्म–शोधन और आत्म–निर्माण की उभय पक्षीय प्रक्रिया अन्तःक्षेत्र में धँसे–फँसे कुसंस्कारों को उखाड़ कर उनकी जगह आम्र वृक्ष लगाती है । कँटीली झाड़ियों से पिण्ड छुड़ाने और स्वादिष्ट फल सम्पदा से लाभान्वित होने का दुहरा लाभ मिलता है । संसार में जितने भी चमत्कारी देवता जाने माने गये हैं, उन सबसे बढ़कर आत्म देव है । उसकी साधना प्रत्यक्ष है । नकद धर्म की तरह उसकी उपासना कभी भी–किसी की भी निष्फल नहीं जाती । यदि उद्देश्य समझते हुए सही दृष्टिकोण अपनाया जा सके तो जीवन साधना को अमृत, पारस और कल्प वृक्ष की कामधेनु की सार्थक उपमा दी जा सकती है ।

साधने से सामान्य स्तर के प्राणी आश्चर्यजनक कार्य करके दिखाते हैं । वन गायें मनुष्य को पास भी नहीं आने देतीं और खेत को उजाड़ कर रख जाती हैं, पर जब वे पालतू हो जाती हैं, तो दूध, बछड़े, गोबर आदि बहुत कुछ देती हैं । स्वयं सुखी रहती हैं और उसके पालने वाले भी लाभान्वित होते हैं । यही बात अन्य वन्य पशुओं के बारे में भी लागू होती है । जंगली, घोड़े, कुत्ते, सुअर, हाथी आदि स्वयं भूखे मरते, कष्ट उठाते और अनिश्चित जीवन जीते हैं । पालतू बन जाने पर वे स्वयं निश्चिन्ततापूर्वक रहते हैं और अपने पालने वालों को लाभ पहुँचाते हैं । अपने भीतर–शरीर तथा मनःक्षेत्र में एक से एक बढ़कर शक्तिशाली धारायें प्रवाहित होती हैं । वे निरुद्देश्य और अनियंत्रित स्थिति में रहकर वन्य पशुओं जैसी असंगत बनी रहती है । फलतः विकृत होकर वे सड़ी दुर्गन्ध की तरह अपने समूचे प्रभाव क्षेत्र को विषैला बना देती हैं । आग जहाँ भी रहती है वहीं जलाती

है, तेजाब की बोतल जहाँ भी फैलती है, वहीं गलाती है । विकृत प्रवृत्तियाँ छितराई हुई आग और फूटी हुई तेजाब की बोतल की तरह हैं, उनसे केवल विनाश ही संभव होता है । यह दोनों ही वस्तुयें यदि सुनियोजित रखी जा सकें तो उनसे उपयोगी लाभ मिलते हैं और वे इतने बड़े-चढ़े होते हैं कि सामान्य दीखने वाला मनुष्य पग-पग पर अपनी असामान्य स्थिति का परिचय देता है । साधना जीवन के बहिरंग और अन्तरंग क्षेत्रों में सुसंस्कारित सुव्यवस्था उत्पन्न करने का नाम है । इसे समझ पाने और कर पाने का प्रतिफल, जंगली जानवरों को पकड़ कर पालतू बनाने की कला में प्रवीण व्यवसाइयों जैसा ही प्राप्त होता है ।

सरकस के जानवर कितने आश्चर्यजनक करतब दिखाते हैं । देखने वाले बाग-बाग हो उठते हैं । इन सधे जानवरों की प्रशंसा होती है-प्रतिष्ठा मिलती है और अच्छी खुराक मिलती है । सधाने वाले और सिखाने वालों को अच्छा वेतन मिलता है और सरकस के मालिकों को उन्हीं जानवरों के सहारे धनवान बनने का अवसर मिलता है, जो उच्छृंखल होने की स्थिति में स्वयं असंतुष्ट रहते और दूसरों को रुष्ट करते थे ।

घरेलू उपयोग में आने वाले जानवर भी बिना सिखाये, सधाये अपना काम ठीक तरह कहाँ कर पाते हैं । बछड़ा युवा हो जाने पर भी मर्जी से हल, गाड़ी आदि में चल नहीं पाता । घोड़े की पीठ पर सवारी करना, उसे दुरकी चाल चलाना सहज ही सम्भव नहीं होता । ऊँट गाड़ी, तांगा, बैलगाड़ी में जुतने वाले पशु अपने आप चलने नहीं लग जाते उन्हें कठिनाई से प्यार, फटकार के सहारे धीरे-धीरे बहुत दिन में इस योग्य बनाया जाता है कि अपना काम ठीक तरह अंजाम देने लगें । साधना इसी का नाम है । इन्द्रियों के समूह को मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के अन्तःकरण चतुष्टय को वन्य पशुओं के समकक्ष गिना जा सकता है । अपने स्वाभाविक रूप में यह सारा ही चेतना परिवार उच्छृंखल होता है । जन्मजन्मान्तरों के पाशविक कुसंस्कारों की मोटी परत उन पर जमा होती है । उसे उतारने के लिये जिस खराद का उपयोग किया जाता है, उसे साधना कह सकते हैं । पशुता को परिष्कृत करके उसे मनुष्यता के-देवत्व के रूप में गढ़ देने के सदृश्य

एक विशिष्ट कौशल है । इस प्रवीणता में पारंगत होने का नाम ही आत्म–साधना है । पशुओं को प्रशिक्षित करने और पत्थर से मूर्तियाँ बनाने की तरह कार्य कुछ कठिन तो है–पर है ऐसा जिसमें लाभ ही लाभ भरा पड़ा है ।

कठपुतली नचाने वाले, हाथ की सफाई से बाजीगरी के कौतुक दिखाने वाले, बन्दर और रीछ का तमाशा करने वाले, जादूगर जैसे लगते हैं और चमत्कारी समझे जाते हैं । यह चमत्कार और कुछ नहीं किसी विशेष दिशा में तन्मयतापूर्वक धैर्य ओर उत्साह के साथ लगे रहने का प्रतिफल मात्र है। ऐसा चमत्कार कौतूहल प्रदर्शन से लेकर किसी भी साधारण तथा असाधारण कार्य में आशाजनक सफलता प्राप्त करने के रूप में कभी भी, कहीं भी देखा जा सकता है । अपनी ईश्वर प्रदत्त विशेषताओं को उभारने और महत्वपूर्ण प्रयोजनों में नियोजित करने का नाम साधना है । साधना का परिणाम सिद्धि के रूप में सामने आता है। यह नितान्त स्वाभाविक और सुनिश्चित है । यदि अपने आपे को साधा जाय, व्यक्तित्व को खरादा जाय तो वह सब कुछ प्रचुर परिमाण में अपने ही घर पाया जा सकता है, जिसकी तलाश में जहाँ–तहाँ मारे–मारे फिरना और मृग–तृष्णा की तरह निराश भटकना पड़ता है ।

साधना से सिद्धि का तत्वदर्शन

पदार्थ की तरह व्यक्ति भी मूलतः अनगढ़ ही होता है । उसे सँभालने, सजाने से उपयोगिता बढ़ती है और सौन्दर्य निखरता है । अनगढ़ मिट्टी पैरों के तले कुचलती रहती है, पर जब परिश्रम करके इसके बर्तन या खिलौने बनाये जाते हैं, तो उस की विशेषता निखर कर आती है और उससे समुचित लाभ उठाया जाता है ।

व्यक्ति अपनी अनगढ़ स्थिति में नर पशु से अधिक और कुछ नहीं । गये-गुजरे स्तर का मनुष्य कई बार तो पशुओं से भी अधिक घृणित और दुःखद परिस्थिति में डूबा पड़ा होता है । स्वयं कष्ट सहता और सम्बद्ध व्यक्तियों को दुःख देता है । भार बनकर जीता और भार हलका करने के लिये मृत्यु के मुख में चला जाता है । किन्तु उसे यदि सुविकसित, सुसंस्कृत बनाया जा सके तो लगता है कि वही ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति है।

साधना को दूसरे शब्दों में संस्कृति कह सकते हैं । शरीरगत क्रियाशीलता, मनोगत विचारणा और अन्तरात्मा की भाव-सवेदना का स्तर किस प्रकार ऊँचा उठाया जा सकता है और किस तरह पशुता को देवत्व में परिणत किया जा सकता है, इसी विद्या का नाम साधना है । अपने आपकी साधना करके कोई भी सिद्ध पुरुष बन सकता है ।

जमीन से निकलते समय लोहा मिट्टी मिला होता है । उसे अग्नि संस्कार करके शुद्ध करना होता है । खदान से निकलते समय की लोह मिश्रित मिट्टी अपने मूल रूप में किसी काम की नहीं होती न वह मिट्टी का प्रयोजन पूरा करती है और न लोहे का-जब उसका परिशोधन होता है, तभी शुद्ध लोहे का स्वरूप सामने आता है । इससे आगे उस लोहे को पिघलाकर औजारों, पुर्जों, हथियारों के रूप में ढाला जाता है । उस लोहखण्ड की उपयोगिता और गरिमा इसी प्रकार बढ़ती है । रसायन वेत्ता सामान्य लोहे को लोहासव, लोह भस्म, माण्डूर भस्म आदि रूप देते है और इन औषधियों के सहारे भयंकर रोग ग्रसितों को जीवन दिलाते हैं । सामान्य से-महत्वहीन-लोह खण्ड को उतना उपयोगी बना देने का श्रेय अग्नि संस्कारों के साथ जुड़ी हुई ढालने, खरादने आदि की प्रक्रिया को ही दिया जा सकता है ।

ऊबड़–खाबड़ भूमि को समतल, उर्वरा पार्क उद्यान के रूप में विकसित करने के लिये कृषक को बहुत कुछ करना पड़ता है । जंगलों में उगे पौधे झाड़–झंखाड़ भर रहते हैं, पर कुशल माली उन्हें अपनी कलाकारिता से काटते–छाँटते, निराते, गोड़ते, कलम लगाते सुरम्य उद्यान की नयनाभिराम स्थिति में पहुँचा देता है। शरीर की साधना करने वाले व्यायाम प्रेमी उसे सुन्दर बलिष्ठ और आकर्षक बना लेते हैं । ऐसे शरीर पहलवान के नाम से प्रख्यात होते और पुरष्कृत होते हैं। विद्वान बनने के लिये मस्तिष्क की साधना करनी पड़ती है । प्रशिक्षण और वातावरण के दबाव से ही मनुष्य सुसंस्कृत बनता और गौरवास्पद होता है । यह सब संस्कार साधना का ही प्रतिफल है।

अनगढ़ स्वर्ण खण्ड स्वर्णकार के हाथों तले जाकर नयनाभिराम आभूषण बनता है। इस विकास में उसे कई प्रकार तपने, पिटने, छिलने की प्रक्रियाओं में होकर गुजरना पड़ता है। अन्य धातुएँ भी मूल स्वरूप में जिस भाव की होती हैं उसकी तुलना में उनके किसी उपयोगी वस्तु के रूप में परिणत हो जाने का मूल्य अनेक गुना हो जाता है । पत्थर के टुकड़े का मूल्य नगण्य है, पर मूर्तिकार के छैनी, हथौड़े सहते–रहने पर उसका स्वरूप देव प्रतिमा का बन जाता है। कागज पर साहित्यकार की लेखनी चलती है और वह बहुमूल्य पाण्डुलिपि के रूप में बदल जाता है ।

वन्य पशु मनुष्य के लिये अनुपयोगी ही नहीं हानिकारक भी होते हैं किन्तु जब उन्हें पालतू बना लिया जाता है और सधा लिया जाता है, तो पूरा–पूरा लाभ उठाया जाता है । वन्य स्थिति से पालतू और प्रशिक्षित बनाने में मनुष्य को धैर्यपूर्वक चिरसाधना में लगा रहना पड़ा है और पशुपालन शास्त्र विकसित करना पड़ा है। अपनी मूल स्थिति में जो सिंह–बाघ मनुष्य का प्राण हरण ही कर सकते हैं, प्रशिक्षित होने पर वे ही भारी कमाई करते हैं । इसे साधना का चमत्कार ही कहा जा सकता है ।

नृतत्त्व विज्ञान के अनुसार मनुष्य भी एक वन्य पशु है । उसे वानर वर्ग के वंश से विकसित होते–होते वर्तमान स्थिति तक पहुँचा हुआ माना जाता है । इस विकास क्रम में उसने अपनी बौद्धिक क्षमता एवं क्रिया कुशलता विकसित की है । बोलना, लिखना और सोचना सीखा

है । शिक्षा, चिकित्सा, शिल्प, कला, कृषि, परिवहन आदि की कितने ही प्रकार की उपलब्धियाँ अर्जित की हैं । यह सब अनायास ही नहीं हो गया । यह लाखों वर्षों की विकास साधना का प्रतिफल है । समाज का गठन, शासन तंत्र, तत्व दर्शन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति आदि का प्रस्तुत ढाँचा यदि खड़ा न किया जा सका होता, तो मनुष्य अपने मूल स्वरूप में वन मानुषों से अधिक कुछ हो नहीं सकता था । अब भी जहाँ सभ्यता का प्रकाश स्वल्प मात्रा में पहुँचा है, वहाँ के मनुष्यों का पिछड़ापन कितना दयनीय प्रतीत होता है ।

हाड़–मांस की दृष्टि से–प्रायः सभी मनुष्यों के शरीर लगभग समान स्तर के हैं । यों तो पत्ते–पत्ते की बनावट में अन्तर होता है, पर मोटी दृष्टि से उन्हें समान ही कहा जा सकता है । यही बात मनुष्य–मनुष्य के बीच में है । उनके बीच पाये जाने वाले अन्तर को नगण्य ही कह सकते हैं । समानता की मात्रा इतनी है कि अन्तर को स्वल्प ही माना जायगा । इतने पर भी देखा जाता है कि एक जैसी परिस्थितियों में जन्मे और पले होने पर भी मनुष्य–मनुष्य के बीच भारी अन्तर रहता है ।

मोटा विभाजन किया जाय, तो मनुष्य समुदाय को दो भागों में बाँटा जा सकता है। सामान्य जन उदर पोषण करते, प्रजनन में निरत रहते और लोभ–मोह की, अहं प्रदर्शन की बालक्रीड़ा में उलझे रहते हैं । ऐसे व्यक्ति धनी, शिक्षित, पदवीधारी, कलाकार, प्रख्यात हो सकते हैं। इतने पर भी उनकी गणना विशिष्टों में नहीं की जा सकती । वरिष्ठ वे हैं जो व्यक्तित्व के धनी हैं । जिनने बहाव में बहने से इन्कार कर दिया है और मल्लाहों की तरह नाव खेने का, मँझधार को चीरकर असंख्यों को इस पार से उस पार पहुँचा देने का निश्चय किया है। ऐसे लोग मनस्वी होते हैं। मनस्वी अर्थात् संकल्पवान् । संकल्पवान् अर्थात् निजी क्षेत्र में कुसंस्कारों को निरस्त करके उत्कृष्ट आदिर्शवादिता अपनाने वाले ।

यह हर किसी से नहीं बन पड़ता । ओछे लोगों को संकीर्ण स्वार्थपरता के भव–बन्धनों से उबरना अति कठिन लगता है। वे अन्धी भेड़ों के झुण्ड में चलने की बात ही सोचते रहते हैं । उन्मुक्त आकाश में अपने पंखों के सहारे एकाकी उड़ने की हिम्मत उनमें होती ही

नहीं । ऐसी दशा में वे सामान्य ही बने रहते हैं । सामान्य से तात्पर्य है निर्वाह, रति-लिप्सा परायण नर पशु । बाहुल्य इन्हीं लोगों का है । पूरे समुद्र में यह सीप घोंघे ही भरे पड़े हैं । यों मणि-मुक्तकों का भी उस भण्डार में अभाव नहीं है, पर वे कठिनाई से ही ढूँढ़े जाते और जहाँ-तहाँ ही स्वल्प परिमाण में मिलते हैं ।

विशिष्ट इन्हीं को कहते हैं । मनुष्यों का जब कभी मूल्यांकन होता है तो इसी प्रामाणिक कसौटी को परखने के लिये आगे लाया जाता है कि कौन कितना पवित्र और प्रखर निकला । पवित्र अर्थात् उदार चेता, दूरदर्शी विवेकवान । प्रखर अर्थात् संयमी, निग्रही, तपस्वी, आदर्शवादी । जो इस कसौटी पर खरे उतरे, वे आकाश में नक्षत्रों की तरह चमके और स्थिर रहे, जिनने अपने को शरीर लिप्सा में ही जकड़े रखा, व्यामोह की कीचड़ में सड़ते रहना ही उपयुक्त समझा वे अपने ही स्तर के लोगों की ही वाहवाही पा सकते हैं । परखने वाले उनकी गणना बाल बुद्धि वालों में ही करते रहेंगे, भले ही वे आयुष्य की दृष्टि से वयोवृद्ध ही क्यों न हो गये हों ?

यों सदा से ही विशिष्टों को सौभाग्यशालियों में गिना जाता रहा है क्योंकि मात्र वे ही आत्म-संतोष की, लोकश्रद्धा की, दैवी अनुकम्पा की विभूतियाँ प्राप्त करते हैं । धरती पर रहते हुए स्वर्ग जैसी भावसंवेदना का रसास्वादन करते और जीवन मुक्तों की तरह अवांछनीयता के हर बन्धन को तोड़ते हुए असीम से सम्पर्क साधने का वह जीवन लाभ लेते हैं जिसका महात्म्य महामानवों की, ऋषि-मनीषियों की, देवदूतों की जीवनगाथा में पढ़ा सुना जाता है । सच्ची प्रगति का यही मार्ग है । सौभाग्यवान और बुद्धिमान होने का यही एक मात्र आधार अवलंबन है । कोई अगति या दुर्गति में ही प्रगति देखने लगे तो इस दृष्टिदोष को भ्रम जंजाल अपनाने वाले को कोई क्या कहे ? संसार में न तो कुछ अनायास होता है और न अप्रत्याशित । प्रकृति की विलक्षण घटनाओं से लेकर मानवी उत्थान-पतन तक की समस्त हलचलें किसी क्रमबद्ध प्रतिक्रिया के सुनिश्चित परिणाम हैं । भले ही हम उस प्रक्रिया से परिचित न होने के कारण भाग्य, दैव आदि का कुछ भी नाम देते रहें । तथ्य 'साधना से सिद्धि' के सिद्धान्त की ही पग-पग पर पुष्टि करते हैं । विज्ञान की साधना करते-करते मनुष्य ने प्रकृति के चमत्कारी वरदान प्राप्त किये हैं । जब तक वे प्रयास बन

नहीं पड़े थे, तब तक प्रस्तुत वैज्ञानिक उपलब्धियों में से एक भी हस्तगत नहीं हुई थी ।

बाजार में हर स्तर की हर वस्तु दुकानों में सजी हुई पाई जाती हैं । वे सभी विक्रय के लिये हैं । दुकानदार पूरे समय एक आशा लगाये प्रतीक्षा करते बैठे रहते हैं कि कोई ग्राहक आये और उन्हें खरीदे । दूसरी ओर उन आकर्षक वस्तुओं के इच्छुकों की भी कमी नहीं । रास्ते चलते हुए लोगों की आँखें उन्हें ललचाती हुई देखती हैं। पैर थोड़ा ठिठकते हैं, पर पा न सकने की स्थिति जब सूझती है, तो मन मसोसकर आगे चल पड़ने की ही बात बनती है । दुकानदार आतुर, ग्राहक इच्छुक फिर तालमेल क्यों नहीं बैठता ? दोनों की नजर एक-दूसरे से मिलती भर है किन्तु विवशता से पलक नीचे हो जाते हैं । न दुकानदार को प्रसन्नता होती है, न ग्राहक को उल्लास भरा अवसर मिलता है। इस विडम्बना का कारण खोजने पर एक ही तथ्य निखर कर आता है कि मूल्य चुकाने की स्थिति नहीं थी । असंख्यों लड़कियों के विवाह होते हैं और कितने ही लड़के कुआरे बैठे हैं । संयोग क्यों नहीं बैठता ? इसलिये कि अनुकूलता की शर्त पूरी नहीं होती । उपयुक्त पात्रता की स्थिति न होने पर किसी भी क्षेत्र में तो तालमेल नहीं बैठता ।

मनुष्य बहुत कुछ चाहता है । उसे अच्छा स्वास्थ्य और दीर्घ-जीवन चाहिये । मन में उत्साह, उल्लास भरा रखने वाली परिस्थितियों की आकांक्षा रहती है, कौन नहीं चाहता कि पैसे की तंगी न रहे । पत्नी का प्यार पाने की उत्सुकता किसे नहीं है ? मित्रों को सम्मान एवं सहयोग किसे अपेक्षित नहीं है । ऐसी-ऐसी अन्यान्य बातें भी हैं, जिन्हें हर व्यक्ति चाहता है । इतने पर भी देखा यह जाता है कि उन अभिलाषाओं की पूर्ति कोई बिरले ही पूरी कर पाते हैं । जिनसे अपेक्षा की गयी थी वे लोग सहयोग देने को इच्छुक नहीं, ऐसी बात भी नहीं है । शरीर की दृश्य- अदृश्य संरचना ऐसी है जिसके सहारे पूर्ण स्वस्थ और दीर्घजीवी रह सकना हर किसी के लिये संभव हो सकता है। जब कृमि कीटक और पशु-पक्षी तक निरोग जीवन जी लेते हैं, तो मनुष्य पर ही ऐसी क्या मुसीबत उतरी है कि उसे दुर्बलता और रुग्णता से निरन्तर कष्ट सहते हुए अकाल मृत्यु मरना पड़े ?

चिड़िया चहचहाती, कुदकती, फुदकती, कोयल कूकती, मोर नाचते, मेंढ़क टरति और भौंरे गुनगुनाते रहते हैं, तो मनुष्य क्यों खीजते–खिजाते, रोते–रुलाते, तनाव और उद्विग्नता के दिन गुजारे ? हर घड़ी चन्दन जैसी सुगन्धि बखेरने में समर्थ विलक्षण मानवी मस्तिष्क क्यों उत्तेजना और निराशा के ज्वार–भाटों में उफनते–बुझते देखा जाय ? चार मुट्ठी अनाज और दस गज कपड़े जितनी स्वल्प आवश्यकता वाला तीन–तीन फुट लम्बे दस उँगलियों वाले हाथ का व्यक्ति क्यों दरिद्र पाया जाय और क्यों उस पर अर्थ चिन्ता छाई रहे ? कबूतरों और हिरनों के झुण्ड स्नेह सहकार के साथ दिन गुजार लेते हैं, तो मनुष्यों के छोटे–छोटे परिवार क्यों जेलखानों की तरह विसंगतियों और दुष्प्रवृत्तियों के केन्द्र बने रहें ? धर्म और ईश्वर के जहाँ इतने ढोल धमाके बजते हों, उन लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों में उदार सहृदयता का, दुःख बटाने और सुख बाँटने की प्रथा परम्परा समाप्त क्यों होती चली जाय ?

इस संसार में चैन की हर्षोल्लास भरी जीवनचर्या व्यतीत करने की सुविधा सामग्री के अजस्र भण्डार भरे पड़े हैं । उन्हें पाने की ललक–लिप्सा तो आतुरता से भी आगे बढ़कर आक्रामकता पर उतारू पायी जाती है । आखिर ऐसा होता क्यों है ? स्रष्टा का निकटतम स्नेह भाजक युवराज इतनी दुर्दशा ग्रस्त नारकीय जिन्दगी जिये जितनी कि उस पर विवशता और लानत की तरह भारभूत होकर लद रही है ।

प्रश्न अत्यन्त टेढ़ा है किन्तु उत्तर अति सरल । इस संसार में वस्तु मूल्य चुकाकर खरीदी जाती है । मुफ्त में तो काया, प्राण, धरती, आकाश, सूर्य, पवन, बादल जैसी जो विभूतियाँ मिल सकती थीं समय से पहले ही मिल चुकी हैं । अब जो पाना हो उसके लिये तत्पर परिश्रम और तन्मय मनोयोग नियोजित करना पड़ेगा । उससे भी बड़ी बात है परिष्कृत व्यक्तित्व में पाया जाने वाला चुम्बक । यही है वह आकर्षण, जिसके खिंचाव से अभीष्ट सफलतायें खिंचती चली जाती हैं । वह कथन अक्षरशः सच है जिसमें पसीने की हर बूँद को हीरे–मोती के समतुल्य माना और तादात्म्य मनोयोग को चमत्कारों का पुंज कहा गया है । पात्रता इन्हीं के समन्वय का नाम है । श्रम, मनोयोग और चरित्र चिन्तन की उत्कृष्टता को व्यक्तित्व की तिजोरी में भरी हुई ऐसी

बहुमूल्य सम्पदा माना जाना चाहिये, जिसकी कीमत पर हर क्षेत्र की, हर स्तर की विभूतियाँ सफलतायें खरीदी जा सकें।

कुपात्रता के रहते वैभव का भाग्योदय किस ग्रह-नक्षत्र से उतरे ? टीले पर वर्षा का जल कैसे ठहरे ? चट्टान पर हरियाली कैसे उगे ? इतना कर सकना तो पावस की मेघमाला से भी न बन पड़ेगा, पुतली का पानी उतर जाय तो संसार में सौन्दर्य भरा रहने पर भी अपनी दुनियाँ अँधेरी ही बनी रहेगी। कान की झिल्ली सूख जाने पर संसार भर की शब्द सम्पदा से अपने को वंचित ही रहना पड़ेगा। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर यह समूची दुनियाँ सृष्टा की सर्वश्रेष्ठ कलाकृति रहने पर भी अस्त-व्यस्त प्रतीत होगी। विवेकवान जानते हैं कि धरातल पर बिखरे हुए काँटे बीनना कठिन है, अपने ही पैरों में जूते पहनने से काम चलेगा। हर वस्तु को हरे रंग की देखना अभीष्ट हो, तो उसी रंग का चश्मा पहनने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। यह दुनियाँ दर्पण की तरह है। जो दीखता है वह वस्तुतः अपने ही स्वरूप का प्रतिबिम्ब होता है। यदि ऐसा न होता तो एक जैसे दो पड़ोसियों में से एक के पल्ले उत्कर्ष और दूसरे के अपकर्ष क्यों बँधता है ? यह दुनियाँ कुएँ की आवाज की तरह है। यहाँ ध्वनि की प्रतिध्वनि ही गूँजती रहती है।

यदि जीवन साधना की गरिमा पर विश्वास किया जा सके, तो समझना चाहिये अध्यात्म शास्त्र में जिस "श्रद्धा तत्व" को सर्वोपरि बताया गया है उसका शुभारम्भ बन पड़ा। देवता भीतर से उगते हैं। सामने तो वे खड़े भर दीखते हैं। मनःस्थिति अदृश्य आन्तरिक है। परिस्थिति उसकी दृश्यमान परिणति है। विषाक्तता रक्त में रहती है, व्रण, अर्बुदों के रूप में तो वह फूटती भर है। पेड़ के पल्लव, फल, फूल, ऊपर आसमान से नहीं टपकते वे दृष्टि से ओझल रहने वाली जड़ों द्वारा रस रूप में खींचे जाते हैं। विभूतियाँ अन्तर में से निकलती हैं। उन्हें किसी देवी-देवता, मन्त्र-तंत्र का अनुदान कहा जाय, तो इसमें विनयशीलता और कृतज्ञता तो है किन्तु यथार्थता नहीं। क्योंकि आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि कुपात्रता के रहते किसी दैवी शक्ति ने मात्र पूजा-पत्री से प्रसन्न होकर किसी के साथ पक्षपात किया हो और पात्रता से अधिक अनुपात में अनुग्रह उड़ेला हो।

लोक मान्यता यह है कि सिद्धियाँ देव अनुग्रह से बरसती हैं । साधना उसी की मनुहार है । यह मान्यता आंशिक रूप से ही सत्य है । दुकानदार माँगने से ही कोई वस्तु निकाल कर दिखाता और देता है । न माँगने पर तो वह देना तो दूर बतावेगा तक नहीं । प्रार्थना को अपनी आवश्यकता की अभिव्यक्ति कह सकते हैं। इस अर्थ में वह उचित भी है और आवश्यक भी । भूल वहाँ होती है, जब प्रार्थना को याचना समझा जाता है । याचना का अर्थ है बिना मूल्य या अल्प मूल्य में कुछ बहुमूल्य पाने के लिये गिड़गिड़ाना । इस उपाय से बहुत हल्के अनुदान ही प्राप्त होते देखे गये हैं। इतने पर भी वे न तो संतोषजनक होते हैं और न सम्मानास्पद। उनका उपयोग करते समय आत्मग्लानि भी होती है और बाहर से तिरस्कृत भी होना पड़ता है । फिर यह प्रचलन तो मानवी है। व्यक्तिगत याचना अनुदान का सिलसिला तो मानव समाज में ही प्रचलित है । विश्व व्यवस्था में तो खरीदने पाने भर का विधान है । सृष्टा की समूची सृष्टि इसी व्यवस्था की धुरी पर परिभ्रमण करती है कि पात्रता प्रस्तुत करने वाले को अनुदान दिये जायें । पवन प्राण वायु की प्रचुर मात्रा लिये अड़ा रहता है, पर उसे सक्षम फेंफड़े ही ग्रहण कर पाते हैं । पाने वाले को अतिरिक्त याचना नहीं करनी पड़ती, जो उपयुक्त है वह अनायास ही मिलता है । उपर्युक्त का तात्पर्य है अपने स्तर के अनुरूप स्तर को बढ़ाये बिना न तो विभूतियाँ मिलती हैं और न मिलने पर ठहरती ही हैं । अतएव पात्रता की पाचन की समर्थता का अभिवर्धन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। साधना में यही करना पड़ता है। यह प्रयास जितना प्रौढ़, प्रखर एवं परिपक्व होता है उसी अनुपात में विभूतियाँ भीतर ही उफनती और बाहर से बरसती दृष्टिगोचर होने लगती हैं ।

देवता बड़े दयालु हैं और अनुग्रहकर्त्ता भी, पर पात्रता को परखे बिना अनुग्रह को बरसा देने के दुष्परिणाम भली-भाँति समझते हैं, इसलिये उनकी कृपा का लाभ भी केवल उन्हीं को मिलता है, जो उपयुक्त पुरुषार्थ करके अपनी पात्रता सिद्ध करते हैं । याचना से, चापलूसी से छल छद्म से भी कभी-कभी कुछ मिल जाता है, पर उसे अत्यन्त ही स्वल्प एवं अपवाद तुल्य ही कहा जा सकता है । उसमें स्थिरता भी नहीं रहती । पात्रता के अभाव में उत्तराधिकार आदि

में मिली प्रचुर सम्पदा भी दुर्व्यसनों में नष्ट होती और दुष्परिणाम उत्पन्न करती देखी गयी है । पुरुषार्थ साधना से अभीष्ट साधनों का, सफलताओं का मिलना तो एक गौण लाभ है। असली लाभ है साधक के व्यक्तित्व का–गुण, कर्म, स्वभाव का सुविकसित होना । इस उपार्जन के सहारे प्रतिभा निखरती है और उस सामर्थ्य के सहारे किसी भी दिशा में प्रगति की जा सकती है ।

साधना में अदृश्य शक्तियों की सिद्धियों की उपलब्धि का प्रतिपादन गलत नहीं है । ईश्वर का अनुग्रह सृष्टि के हर घटक पर अनादि काल से बरसता रहा है और अनन्तकाल तक बरसता रहेगा। उसे न्यून या अधिक मात्रा में प्राप्त कर सकना अपने स्तर के अनुरूप ही हो सकता है। संसार में आहार के विपुल भण्डार भरे पड़े हैं । उन्हें प्राप्त करने की सभी को सुविधा है । किन्तु चींटी अपने स्तर की मात्रा में सामग्री प्राप्त कर लेती है और हाथी को अपने काम के पदार्थ अपनी आवश्यकतानुसार मिलते रहते हैं। सृष्टा के अनुग्रह और अनुदान में कोई कमी नहीं। उससे याचना करने की आवश्यकता नहीं। पात्रता सिद्ध कर देना भर पर्याप्त है । प्रार्थना का, साधना का उद्देश्य इसी पात्रता का अभिवर्धन है ।

पेड़ अपनी आकर्षण शक्ति से बादलों को खींचते और बरसने के लिये विवश करते हैं । पौधों पर ओस से कण जमा होते हैं। खदानें अपने सजातीय कणों को दूर–दूर तक आमंत्रण भेजती हैं और उन्हें अपने निकट खींच बुलाती हैं। यह चुम्बकत्व है, जो जहाँ जितना अधिक होता है, सजातियों को उसका उसी स्तर का आह्वान आमन्त्रण मिलता है । फलतः वे उसी गति से दौड़ते चले आते हैं । खिलते फूल का चुम्बकत्व मधुमक्खियों, तितलियों और भौंरों को न्योत बुलाता है । खिलते हुए यौवन से अनेकों आँखें अनायास ही आकर्षित होती हैं। प्रतिभा अनेकों को प्रशंसक एवं अनुयायी बनाती है । यह चुम्बकत्व के चमत्कार हैं । साधक का चुम्बकत्व दैवी शक्तियों को अदृश्य रूप में आमन्त्रण करता है और उन्हें अनुग्रह बरसाने के लिये सहज सहमत करता है ।

भौतिक प्रगति के उदाहरण आये दिन सामने आते रहते हैं । इसलिये उन्हें सामान्य एवं लौकिक माना जाता है और सफलतायें

कहा जाता है । आत्मिक प्रगति की दिशा में लोगों का ध्यान कम है । उस दिशा में प्रयत्न या तो होते ही नहीं, होते हैं, तो अवैज्ञानिक स्तर के, फलतः आकस्मिक विभूतियाँ कभी–कभी ही कदाचित किसी के पास दीख पड़ती हैं । जो असाधारण तथ्य यदाकदा ही दृष्टिगोचर होते हैं, वे कौतूहल की तरह देखे और चमत्कार कहे जाते हैं । आत्मिक साधनाओं का फल चमत्कार समझा जाता है और उसे 'सिद्धि' नाम दिया जाता है । वस्तुतः आत्म–साधना के आधार पर आत्म–चेतना की गहरी परतों को उभारने की प्रसुप्त शक्तियों के जागरण की प्रक्रिया सम्पन्न होती है और उसके सहारे जो असाधारण स्तर के सत्परिणाम उत्पन्न होते हैं उन्हें सिद्धि कहा जाता है ।

सिद्धियों की एक धारा ऊपर से बाहर से बरसती है और दूसरी नीचे भीतर से उभरती है । दैवी अनुग्रह से अनेकों लाभान्वित होते हैं । ठीक उसी प्रकार आत्मोत्कर्ष की प्रक्रिया द्वारा प्रसुप्त क्षमताओं का जागरण होता है, तो उनके साथ ही वे विभूतियाँ प्रकट होती हैं, जिनसे सामान्य जन वंचित ही नहीं, अपरिचित भी बने रहते हैं । मनुष्य के भीतर बहुत कुछ है। इतना कुछ जिसे सृष्टा की सामर्थ्य के समतुल्य भी कहा जा सकता है । वृक्ष का विशालकाय ढाँचा छोटे से बीज में सुनिश्चित रूप से विद्यमान रहता है । सौर मण्डल की समस्त प्रक्रिया सूक्ष्म रूप में नन्हे से परमाणु में यथावत गतिशील रहती हैं। जड़ें नीचे से रस खींचती और पेड़ के कलेवर को हरा–भरा, पुष्पित, फलित बनाने के सारे सरंजाम जुटाती हैं। यद्यपि वे आँखों से दीखती नहीं, जमीन में दबी रहती हैं तो भी जानकारों को पता रहता है कि पेड़ तो मात्र कलेवर है, उसकी शोभा समर्थता का स्रोत तो अदृश्य जड़ों में ही पूर्णतया सन्निहित है। जीव का छोटा अन्तराल लगभग उतना ही समर्थ है जितना कि ब्रह्म का विराट विस्तार । व्यक्ति भीतर से ही उगते हैं। बाहर तो उस अन्तरंग प्रगति का प्रमाण परिचय भर मिलता है।

जीव की प्रसुप्त शक्तियाँ भीतर से उभरती हैं । उनके उफनने पर उसी तरह की प्रवाह धारा बहने लगती है, जैसे कि यमुना, नर्मदा, चम्बल आदि कुण्डों में से निकलकर भूतल पर प्रवाहित होती हैं । निर्झर भी ऊपर से नीचे गिरते और भूमि पर गतिशील होते देखे जाते

हैं। यह दोनों ही सौभाग्य हर किसी के लिये सहज सुलभ हैं। पात्रता का परिचय देकर इस संसार के विभिन्न बाजारों से कुछ भी कितनी ही मात्रा में खरीदा जा सकता है। मण्डी में पैसे की तूती बोलती है । धनवान इच्छानुसार किसी भी स्तर के सुविधा साधन कितनी ही मात्रा में खरीद सकते हैं । इसी प्रकार बलिष्ठता, बुद्धिमत्ता, प्रतिभा आदि सामर्थ्यों के भी अपने-अपने क्षेत्र हैं और उनमें उपलब्धियाँ प्राप्त करने वाले अपनी योग्यता एवं तत्परता के अनुरूप जो चाहें सो, जितना चाहें सो खरीद सकते हैं। जिनकी जेब खाली है, जो अशक्त अकर्मण्य हैं, उन्हें बड़े मनोरथ करने में भी निराशा का कष्ट सहना पड़ता है । मिलना तो उन्हें है ही क्या ? प्रार्थना याचना करते रहने पर भी उनके पल्ले 'न कुछ' ही पड़ता है। समर्थता ही वह पूँजी है, जिसे विभिन्न उपलब्धियों को खरीद सकने वाली पात्रता कह सकते हैं । इस बहुमुखी पात्रता का उपार्जन पुरुषार्थ ही साधना है।

साधना से सिद्धि का सिद्धान्त सुनिश्चित है। भौतिक क्षेत्र में अपने-अपने प्रसंग में साधनारत पुरुषार्थी अभीष्ट मनोरथ पूरे करते देखे जाते हैं । आत्मोत्कर्ष भी चेतनात्मक विभूतियाँ अर्जित करने की ही एक विशिष्ट प्रक्रिया है । उसमें सफलता प्राप्त करने का सिद्धान्त भी वही है, जो भौतिक सफलताओं पर लागू होता है । साधक जीवन देवता की साधना करते हैं । उसके अन्तरंग और बहिरंग दोनों पक्षों को समुन्नत बनाते हैं । सामान्य स्थिति में यहाँ सब कुछ अनगढ़ रहता है । उत्कृष्टता, दृष्टिकोण एवं पुरुषार्थ उसे सुन्दर सुव्यवस्थित बनाता है । झाड़ियों के स्थान पर उद्यान उगाना, वन्य पशुओं को पालतू बनाना, अनगढ़ को सुगढ़ में परिवर्तित करना संस्कृति है । इसी का चमत्कार इस दृश्य जगत में सर्वत्र बिखरा पड़ा है । साहित्य ने चिन्तन को दिशा दी है । सृजन ने सुविधा साधन खड़े किये हैं । अपने आप को सद्गुणों की सम्पदा से लदा हुआ कल्पवृक्ष बना लेना यही साधना का उद्देश्य है ।

जीवन प्रत्यक्ष देवता है । उसकी साधना कर सकने वाले सुनिश्चित रूप से भौतिक सिद्धियाँ और आत्मिक ऋद्धियाँ उपलब्ध करते हैं । दूसरे भ्रमग्रस्त तो कल्पित देवी-देवताओं के सामने नाक रगड़ते,

मनुहार करते, दाँत निपोरते और अन्ततः निराश होकर खीजते, अनास्था व्यक्त करते देखे जाते हैं । विवेकवानों को वास्तविकता ही वरण करनी चाहिये भले ही वह कठोर या कष्टसाध्य ही क्यों न हो ? सस्ते का लोभ आमतौर से निराशा ही पल्ले बाँधता है । निराशा ही नास्तिकता है । कम दाम में बहुमूल्य वस्तुएँ पाने वाले आरम्भ में भले ही आस्तिक दीखें अन्ततः वे नास्तिक बनकर ही रहते हैं । क्योंकि नियति की व्यवस्था किसी आतुर-लालची की इच्छानुसार नहीं बदली जा सकती । प्रतिभा अर्जित किये बिना, पुरुषार्थ का मूल्य चुकाये बिना बहुमूल्य सफलतायें यदि ऐसे ही पूजा-पाठ जैसे 'शार्टकटों' से मिल जाया करें, तो फिर संसार में एक भी मनुष्य व्यक्तित्व उभारने और उत्कृष्टता अपनाने का दुस्साहस न करेगा । जीवन ही देवता है । इसे जितनी जल्दी जितनी गहराई से समझा जा सके उतना ही उत्तम है । जो इस सनातन सत्य को जितनी जल्दी अंगीकार, हृदयंगम कर सकें, उन्हें उसी श्रेणी का बड़भागी कहा जायगा । क्योंकि मनुष्य जन्म के साथ जुड़े हुए अनेकानेक उपहारों से लाभान्वित होने का अवसर मात्र ऐसे ही लोगों को मिलता रहा है । भविष्य में भी उन्हीं के लिये सुनिश्चित रहेगा ।

आत्मिक प्रगति हेतु आत्मबोध की दैनिक साधना

'आत्मबोध' और 'तत्व बोध' सद्ज्ञान की यह दो धारायें हिमालय से निकलने वाली पतित पावनी गंगा और तरण तारिणी यमुना की तरह हैं। आत्मबोध का अर्थ है—अपने उद्गम, स्वरूप, उत्तरदायित्व एवं लक्ष्य को समझना, तदनुरूप दृष्टिकोण एवं क्रियाकलाप का निर्धारण करना। तत्व बोध का अर्थ है कि शरीर—उसके उपयोग और अन्त के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति से परिचित होना। सांसारिक पदार्थों एवं सम्बन्धित व्यक्तियों के साथ जुड़े हुए सम्बन्धों में घुसी हुई भ्रान्तियों का निराकरण करना तथा इनके सम्बन्ध में बरती जाने वाली नीति का नये सिरे से मूल्यांकन करना। संक्षेप में चेतना की सत्ता की यथार्थता को समझना आत्म—बोध और उसके काम आने वाले पदार्थों एवं प्राणियों के साथ उचित तालमेल बिठाने को तत्वबोध कहते हैं। यदि इतना भर भी ठीक तरह जान लिया जाय, तो समझना चाहिये कि ज्ञान साधना का उद्देश्य पूरा हो गया।

यों जीवन साधना का क्रम सारे दिन हर समय चलने का है, पर उसका प्रारम्भ, शुभारम्भ एक चिन्तन पद्धति के साथ किया जाना चाहिये। इस पद्धति के तीन अंग हैं—जीवन के स्वरूप, उद्देश्य एवं उपयोग को समझना और उसके अनुरूप गतिविधियों का निर्धारण करना, "हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत" सूत्र के अनुसार जीवन का श्रेष्ठतम उपयोग करने के लिये दिन भर की शारीरिक कार्य पद्धति एवं मानसिक विचार पद्धति का निर्धारण करना। रात को सोते समय, मृत्यु के समय होने वाले वैराग्य का अनुभव करना। इन तीन चिन्तन क्रम में से दो को प्रातः और तीसरे को रात्रि के सोते समय प्रयुक्त करना चाहिये। हर दिन प्रातःकाल उठते ही बिस्तर पर बैठ कर अपने आपसे इन सन्दर्भ में तीन प्रश्न पूछने चाहिये और उनके उत्तर भी स्वयं ही उपलब्ध करने चाहिये, पर प्रश्नोत्तर प्रातःकाल जीवन का क्रम आरम्भ करते हुए नित्य ही दुहराने चाहिये ताकि जीवन का स्वरूप, उद्देश्य और उपयोग सदा स्मरण बना रहे और उस स्मरण के आधार पर अपनी दिशायें ठीक रखने में भूल—चूक न होने पावे।

अपने आप से तीन प्रश्न पूछने चाहिये—

(१) भगवान् को सभी प्राणी समान रूप से प्रिय पात्र हैं । फिर मनुष्य को ही बोलने, सोचने, लिखने एवं असंख्य सुख, सुविधायें प्राप्त करने का विशेष अनुदान क्यों मिला ? मनुष्य को हर दृष्टि से उत्कृष्ट स्तर का प्राणी बनाने में इतना असाधारण श्रम क्यों किया ?

उत्तर एक ही हो सकता है—"अपने उद्यान—इस संसार को अधिक सुन्दर और सुव्यवस्थित बनाने के लिये परमेश्वर को साथी सहचरों की जरूरत पड़ी और अपनी क्षमता से सुसज्जित एक सर्वांगपूर्ण प्राणी—मनुष्य इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये बनाया । विशेष साधन सुविधायें इसलिये दीं कि उनके द्वारा वह ईश्वरीय प्रयोजनों की पूर्ति ठीक तरह कर सके ।"

(२) दूसरा प्रश्न अपने आपसे पूछना चाहिये—"जो सुविधायें, विभूतियाँ संपदायें हमें उपलब्ध हैं—उनका लाभ यदि हम अकेले ही उठाते हैं, तो इसमें क्या कोई हर्ज है ?"

उत्तर एक ही मिलेगा—'अन्य प्राणियों के अतिरिक्त जितनी भी बौद्धिक, आर्थिक, प्रतिभायुक्त एवं अन्य किसी प्रकार की विशेषतायें हैं, वे विश्व मानव की ही पवित्र अमानत हैं और इनका उपयोग लोक—मंगल के लिये ही किया जाना चाहिये । शरीर रक्षा भर के आवश्यक उपकरणों के अतिरिक्त इन साधनों का विश्व कल्याण के लिये ही उपयोग किया जाय ।"

(३) तीसरा प्रश्न अपने आप से करना चाहिये कि—"क्या इस सुर दुर्लभ मानव शरीर का सदुपयोग हो रहा है ।"

उत्तर यही मिलेगा—'हम सदाचारी, संयमी, परिश्रमी, उदार, सज्जन, हँसमुख, सेवाभावी बने बिना मानव जीवन को सार्थक नहीं बना सकते । इसलिये इन साधनों का अभ्यास बढ़ाने के लिये जीवन यापन की रीति—नीति में उत्कृष्टता और आदर्शवादिता का, सभ्यता और सज्जनता का—पुरुषार्थ और साहस का समुचित समावेश करना चाहिये ।"

इन्हीं प्रश्नोत्तरों में अध्यात्म—तत्वज्ञान का सार सन्निहित है । यदि यह प्रश्न महान समस्या के रूप में सामने आयें और उन्हें सुलझाने के लिये हम अपने पूरे विवेक का उपयोग करें तो भावी जीवनयापन के उपयोग के लिये एक व्यवस्थित दर्शन और कार्यक्रम सामने आ खड़ा

होगा । यदि इस तत्वज्ञान को ठीक तरह हृदयंगम किया जा सका, तो आकांक्षाओं और कामनाओं का स्वरूप बदला हुआ होगा । रीति–नीति और कार्यपद्धति में वैसा परिवर्तन परिलक्षित होगा जैसे आत्मज्ञान सम्पन्न मनुष्य में प्रत्यक्षतः होना चाहिये ।

"हर दिन नया जन्म और हर रात नयी मौत" का सूत्र आत्म–बोध और तत्व–बोध की दोनों साधनाओं का प्रयोजन पूरा करता है । प्रातःकाल नींद खुलते ही हर रोज यह भावना जागृत करनी चाहिये कि आज हमारा नवीनतम जन्म हुआ है और वह सोते समय तक एक रोज के लिये ही है । इसे हर दृष्टि से श्रेष्ठतम और आदर्श रीति–नीति अपनाते हुए जिया जाय । इसके लिये शैया त्याग से लेकर रात को सोते समय तक का कार्यक्रम बनाना चाहिये । दिनचर्या ऐसी हो, जिसमें आलस्य के लिये तनिक भी गुंजायश न हो । पूरी तरह व्यवस्था रहे । आजीविका –उपार्जन, नित्य कर्म, पारिवारिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह, स्वाध्याय आदि के क्रिया कलापों का समुचित समन्वय करते हुए इस प्रकार निर्धारण करना चाहिये, जिसमें आलस्य–प्रमाद के लिये कोई गुंजायश न रहे । विश्राम के लिये रात्रि का समय ही पर्याप्त है । जल्दी सोना और जल्दी उठने की आदत डाली जानी चाहिये । समय का एक क्षण भी बर्बाद न जाने पावे और उसका उपयोग निरर्थक कामों में नहीं वरन् जीवन को सार्थक बनाने वाले निर्वाह की उचित आवश्यकता पूरी करने वाले कार्यों की प्रमुखता में हो । मनोरंजन के लिये–थकान दूर करने के लिये गुंजायश रखी जा सकती है । किन्तु गपशप, मटरगश्ती, यारवासी में, आलस्य–ऊँघने में बेकार समय न गँवाना पड़े, इसकी समुचित सतर्कता बरतनी चाहिये । समय ही जीवन है, श्रम ही सम्पत्ति है–इस मन्त्र को पूरी तरह से याद रखा जाय । निर्धारित समय विभाजन को अनिवार्य अड़चन आ पड़े, तो बात दूसरी है अन्यथा यथा सम्भव पूरा करने का ही प्रयत्न करना चाहिये ।

जो काम किया जाय उसमें पूरा–पूरा मनोयोग लगाया जाय । हाथ में लिये काम को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर इस कुशलता के साथ सम्पन्न किया जाय कि उनका स्तर ऊँचा बना रहे । आधे–अधूरे मन से उपेक्षापूर्वक बेगार भुगतने की तरह लापरवाही के साथ जो भी

काम किये जायेंगे वे फूहड़, भौंड़े, अस्त-व्यस्त और अनगढ़ होंगे। ऐसे काम कर्त्ता के गये-गुजरेपन के प्रमाण हैं। काम का स्तर अच्छा रहना इस बात पर निर्भर हैं कि पूरे मनोयोग के साथ पूरी जिम्मेदारी के लिये-अपनी कुशलता और सतर्कता का समुचित समावेश करते हुए सम्पन्न किया जाय। जिस कार्य को उत्साहपूर्वक, तन्मयता के साथ किया जायगा, उसमें समय भी कम लगेगा और चित्त प्रसन्न रहेगा अन्यथा बेगार भुगतने पर थोड़े से काम में बेहद थकान चढ़ेगी और थोड़े से काम में ढेरों समय लग जायगा। आलस्य और प्रमाद हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं। आलस्य शरीर को अपाहिज की तरह बना देता है और वह विक्षिप्त जैसे आचरण करता है, जिस पर प्रमाद चढ़ा रहता है। ऐसे आदमी पग-पग पर असफल होते हैं और अपनी कर्महीनता के कारण उपेक्षित रहते और तिरस्कृत बनते हैं।

प्रातः उठते ही हमें अपनी सुसन्तुलित दिनचर्या निर्धारित करनी चाहिये। साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि उन्हें करते समय आदर्शवादी दृष्टिकोण का समन्वय बना रहे। तृष्णा, लिप्सा, स्वार्थपरता, धूर्तता, अनैतिकता का दृष्टिकोण लेकर किये जाने वाले कार्य भले ही उपयोगी ही क्यों न लगते हों, उनमें ऐसी त्रुटियाँ बनी रहेंगी, जिससे समाज का अहित होगा और अपना स्तर गिरता हुआ दृष्टिगोचर होने लगेगा। सामान्य कार्यों को भी यदि लोकहित और आत्म-कल्याण के आदर्शवादी सिद्धान्तों का समावेश करते हुए किया जाय, तो वे कर्मयोग की श्रेणी में गिने जायेंगे और प्रत्यक्षतः परमार्थ न लगते हुए भी लगभग वैसी ही उद्देश्य पूर्ति करेंगे। दैनिक कार्यों में यह ध्यान रखा जाय कि जिन पर भी उनका प्रभाव पड़े-सम्बन्ध रहे-वे दुष्टता और दुर्बुद्धि का आक्षेप न लगा सकें, अपने हर कृत्य में, ईमानदारी, सचाई, कर्तव्य परायणता और सद्भावना का समावेश होना चाहिये। इस दृष्टि को अपनाते हुए जो कुछ किया जायगा वह नैतिक भी होगा और लोकोपयोगी भी। जिसके सोचने का ढंग ऊँचा है, वे समाज के लिये अहितकर काम कभी चुनेंगे ही नहीं, भले ही उन्हें भूखा क्यों न मरना पड़े। लोकोपयोगी कार्य करते हुए उचित पारिश्रमिक लेकर यदि भलमनसाहत का जीवनयापन किया जा सके, तो उस क्रिया-कलाप को, कर्मयोग की ही संज्ञा दी जायगी।

दिन भर के उत्तम काम उत्कृष्ट दृष्टिकोण रखते हुए सम्पन्न किये जाते रहें, जिन्हें उस दिनचर्या को उस दिन को सार्थक बनाने वाली कहा जा सकता है । बीच-बीच में जब भी कुसंस्कारों की प्रबलता से आलस्य-प्रमाद अथवा अनैतिक दृष्टिकोण का समावेश होने लगे, तो उसे तत्काल रोका जाय । जिस तरह मुँह पर मक्खी बैठते ही तत्काल उसे उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है, उसी प्रकार अवांछनीयता का अपने क्रियाकृत्य एवं चिन्तन में तनिक भी समावेश न होने पाये, इस पर तीखी नजर रखी जाय । जब कुछ ऐसा होता दिखाई पड़े तो उसे रोकने के लिये अपने आपको सजग किया जाय । अभ्यस्त दुष्प्रवृत्तियों से हर घड़ी जूझते रहने के लिये जागरूक प्रहरी की हमें भूमिका निवाहनी चाहिये । चोर घर में घुसने न पाये, घुसने का दुस्साहस करे, तो मार भगाया जाय, इसी में सतर्कता की सराहना है । इस सम्बन्ध में हमें निरन्तर जागरूक रहना चाहिये । दिन भर यह ध्यान रखा जाय कि आज का दिन हमें श्रेष्ठतम आदर्शवादी रीति-नीति अपनाते हुए पुण्य परमार्थ से भरा-पूरा बनाना है । उसमें शरीर निर्वाह एवं परिवार पालन के लिये जितना अनिवार्य रूप से आवश्यक है उतना ही संलग्न रहना है । प्रातःकाल इसी आधार पर दिन भर का कार्यक्रम बनाया जाय और उस पर दृढ़तापूर्वक आरूढ़ रहा जाय, तो निस्संदेह संकल्प के अनुरूप वह दिन ऐसा ही व्यतीत होगा, जिस पर गर्व एवं संन्तोष किया जा सके ।

सब कामों से निवृत्त होकर जब निद्रा देवी की गोद में जाने की घड़ी आये, तब कल्पना करनी चाहिये कि-"एक सुन्दर नाटक का अब पटाक्षेप हो चला । यह संसार एक नाट्यशाला है । आज का दिन अपने को अभिनय करने के लिये मिला था, सो उसको अच्छी तरहखेलने का ईमानदारी से प्रयत्न किया । जो भूलें रह गयीं उन्हें याद रखेंगे और अगले दिन उनकी पुनरावृत्ति न होने देने के लिये अधिक सावधानी बरतेंगे ।"

"अनेक वस्तुयें इस अभिनय में प्रयोग करने को मिलीं । अनेक साथियों का साथ रहा । उनका सान्निध्य एवं उपयोग जितना आवश्यक था कर लिया गया, अब उन्हें यथा समय छोड़कर पूर्ण शान्ति के साथ अपनी आश्रयदात्री निद्रा-मृत्यु की गोद में निश्चिन्त होकर शयन करते हैं ।"

इस भावना में वैराग्य का अभ्यास है । अनाशक्ति का प्रयोग है । उपलब्ध वस्तुओं में से एक भी अपनी नहीं, साथी व्यक्तियों में से एक भी अपना नहीं । वे सब अपने परमेश्वर के और अपने कर्तृत्व की उपज हैं । हमारा न किसी पर अधिकार है, न स्वामित्व । हर पदार्थ और हर प्राणी के साथ कर्तव्य बुद्धि से ठीक व्यवहार कर लिया जाय, यही अपने लिये उचित है । इससे अधिक मोह, ममता के बन्धन बाँधना–स्वामित्व और अधिकार की अहंता जोड़ना निरर्थक है । हर रात्रि को सोते समय यह मानकर निद्रा की गोद में जाना चाहिये कि यह जीवन के एक अध्याय का सन्तोषजनक अन्त हुआ । अब मृत्यु जैसी शान्ति को गले लगाना है । रात्रि निद्रा को मृत्यु जैसी शान्ति माना जाय । इससे अति महत्वपूर्ण आध्यात्मिक लाभ मिलता है । हम मृत्यु को एक प्रकार से भूले रहते हैं । अस्तु जीवन का मूल्य और स्वरूप समझ पाना ही हमारे लिये सम्भव नहीं हो पाता । आमतौर से जब तक वस्तु हाथ में रहती है, तब तक उसका न तो महत्व समझ में आता है और न उपयोग । जब वह छिन जाती है, तब पता चलता है कि वह उपलब्धि कितना बड़ा सौभाग्य थी । उसका समय रहते कितना अच्छा सदुपयोग हो सकता है ।

प्रगति पथ पर धीरे–धीरे बढ़ते हुए मनुष्य जन्म तक पहुँच सकना सम्भव हुआ है । यह उपहार ईश्वर का सर्वोपरि अनुग्रह है । इसमें जो सुविधायें हैं वे किसी भी अन्य योनि में नहीं हैं । बहुमूल्य अनुदानों का सदुपयोग कर सकने की दूरदर्शिता, जिनमें हो उन्हें और भी श्रेष्ठ अवसर मिलने की अपेक्षा करनी चाहिये । यह हमारी अग्नि परीक्षा है कि ईश्वर प्रदत्त मनुष्य जन्म को हम किन प्रयोजनों के लिये किस प्रकार उपयोग में लाते हैं । पेट और प्रजनन में तो सृष्टि के निकृष्ट प्राणी भी संलग्न हैं । मानवी गरिमा की सफलता इसमें है कि इस जन्म को आत्म–कल्याण और लोक–कल्याण के उच्च प्रयोजन में ईश्वर की इच्छा के अनुरूप लगाये रखा जाय । जो इसके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, उन्हें महात्मा–देवात्मा के उच्च पद प्राप्त करते हुए अन्ततः परमात्मा बनने का अवसर मिलता है । जो पशु–प्रवृत्तियों में ही उलझे रह जाते हैं, उनके हाथ से यह भी छिन जाता है । पात्रता सम्पादन के लिये उन्हें फिर निम्न योनियों में भटकना पड़ता है । यह

बहुमूल्य तथ्य विदित रहने पर भी अविदित जैसे बने रहते हैं । वह जानकारी व्यर्थ है, जो क्रिया को प्रभावित न कर सके ।

रात्रि को सोते समय दैनिक निद्रा को चिर-निद्रा, मृत्यु के समतुल्य मान कर चलना चाहिये । शैया पर जाते ही कल्पना करनी चाहिये कि 'हर दिन नया जन्म-हर रात नई मौत' जीवन सूत्र के अनुसार अब मरणकाल आ गया । एक दिन का जीवन अब समाप्त हो चला । निन्द्रा रूपी मृत्यु अपने अंचल में प्राण को ढक लेने के लिये निकट आ गयी ।

इस अवसर के लिये कल्पना यह होनी चाहिये कि शरीर में से जीव निकल कर ऊँचे प्रकाश में उड़ने लगा । मृत शरीर शैया पर पड़ा है । उसके जलाने, गलाने, गाड़ने की क्रिया-अन्त्येष्टि होने जा रही है । अपनी जीव सत्ता प्रथक है और शरीर कलेवर का अस्तित्व उसके प्रयोग में आते रहने पर भी उससे सर्वथा भिन्न है । शरीर और आत्मा की भिन्नता यों कहने-सुनने में सदैव आती रहती है, पर उसकी अनुभूति कभी भी नहीं होती । किसी मृत को श्मशान में पहुँचाते समय, उसके अग्नि संस्कार के समय शरीर आत्मा की भिन्नता-जीवन की नश्वरता एक हल्की झाँकी की तरह अन्तःकरण में उभरती है किन्तु कुछ ही क्षण में बिजली की कौंध की तरह विस्मृति में विलीन हो जाती है । अपनी स्वयं की मृत्यु का भावना दृश्य यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो उससे आत्म-ज्ञान का वह प्रकाश उदय हो सकता है, जो आध्यात्मिकता का मूलभूत आधार है । मृत्यु को निद्रा के रूप में अपनी नित्य सहचरी होने की बात सोचते हुए शयन किया जाय और उसके फलितार्थों पर विचार करते रहा जाय, तो इसकी प्रतिक्रिया आत्मोत्कर्ष का पथ प्रशस्त कर सकती है ।

नित्य सोते समय अपनी मृत्यु की अनुभूति करने की भावना यदि गहरी हो, तो उसके साथ ही कई प्रश्न उभरते हैं । मनुष्य जीवन ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ अनुदान होने और उसके अमानत की तरह विश्व उद्यान को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिये दिये जाने की बात अधिक स्पष्ट रूप से समझ में आती है । शरीर की ही साज-सज्जा में लगे रहने, आत्म-कल्याण का तथ्य भुला देने की मूर्खता को छोड़ने के लिये व्याकुलता उत्पन्न होती है । शरीर उपकरण मात्र है, वह आत्मा

के उच्च क्रिया–कलाप पूरे करने भर के लिये मिला है । इन्द्रियों की वासना और मनोगत तृष्णा अहंता जैसे क्षुद्र कार्यों में यह अलभ्य अवसर नष्ट हो जाय और आत्मिक लक्ष्य पूरा ही न हो, तो वह एक भयानक दुर्घटना ही कही जायगी, इस प्रकार सोच सकना तभी सम्भव होता है, जब मृत्यु को शिर पर खड़ी देखा जाय । इसके बिना आत्म विस्मृति की खुमारी ही छाई रहती है और मौज मजा करते हुए दिन गुजारने के अतिरिक्त और कुछ सूझ ही नहीं पड़ता लक्ष्य भ्रष्ट जीव के लिये लोभ और मोह की पूर्ति करते रहना ही परम प्रिय बना रहता है ।

सोते समय मृत्यु को सहचरी की तरह साथ लेकर सोया जाय, तो वह सद्गुरु की तरह जीवन का मूल्य, स्वरूप एवं सदुपयोग इतनी अच्छी तरह समझाती है, जितना कोई अन्य ज्ञानी–विज्ञानी भी नहीं समझा सकता । उन घड़ियों में वैरागी की, अनासक्त कर्मयोगी की भावनायें मन में भरी रहनी चाहिये । वैरागी, संन्यासी उसे कहते हैं, जो सम्बद्ध पदार्थों और प्राणियों पर से स्वामित्व की भावना हटा लेता है । मालिकी छोड़कर माली का पद स्वीकार करता है । इस चिन्तन से विवेक दृष्टि उपलब्ध होती है । कर्तव्य पालन अपनी आकांक्षा बन कर रह जाता है । "स्वामित्व भगवान का–सेवा धर्म अपना" इतना सोच लिया जाय तो समूचा दृष्टिकोण ही बदल जाता है । तृष्णा–अहंता के कारण जो अकर्म करने पड़ते हैं और अनावश्यक चिन्ताओं के बोझ शिर पर लादे रहते हैं, उन सबसे सहज ही छुटकारा मिल जाता है ।

जीवन का आनन्द उसे मिलता है, जो उसे खिलाड़ियों द्वारा खेले जाने वाले खेल की तरह जीता है । नाटक के पात्रों को तरह–तरह के अभिनय करने पड़ते हैं, वे उनसे अत्यधिक प्रभावित नहीं होते । विवेकशीलता इसी में है कि अपना प्रत्येक कर्तव्य पूरी ईमानदारी और तत्परतापूर्वक सम्पन्न करते रहा जाय और उतने भर को अपने सन्तोष एवं उत्तरदायित्व निर्वाह का केन्द्र विन्दु मानते रहा जाय । मनोकामनाओं को कर्तव्य पालन तक सीमित कर दिया जाय और परिणामों की बात परिस्थितियों पर निर्भर होने का तथ्य स्वीकार कर लिया जाय तो सिर पर चढ़ी रहने वाली भविष्य की आवश्यक चिन्तायें अनायास ही तिरोहित हो जाती हैं । सफलता और असफलता दोनों

का जो समान रूप से स्वागत करने को तैयार हैं, उस सन्तुलित मनःस्थिति के व्यक्ति को तत्वदर्शी और विज्ञानी कह सकते हैं । ऐसा व्यक्ति ही जीवन नाटक का आनन्द ले सकता है । स्वयं प्रसन्न रहना व साथियों को प्रसन्न रखना उसी के लिये सम्भव होता है । वैराग्य, संन्यास इसी मनःस्थिति का नाम है । अनासक्त कर्मयोगी एवं स्थिति प्रज्ञ–प्रज्ञावान ऐसे ही लोगों को कहा जाता है। रात्रि को सोते समय अपनी मनःस्थिति ऐसी ही बनाकर सोया जाय, तो गहरी नींद आवेगी, चित्त बहुत हल्का रहेगा और प्रातःकाल ताजगी के साथ उठना सम्भव हो सकेगा ।

भारतीय धर्म वर्णाश्रम धर्म है। उसकी मर्यादा है कि जीवन के अन्तिम अध्याय में संन्यासी होकर मरना चाहिये । अब तो वे परम्परायें तिरोहित ही होती जाती हैं, पर जब तक वे मान्यतायें जीवित थीं, तब तक यह प्रचलन भी था कि यदि कोई व्यक्ति मरने जा रहा है और संन्यास नहीं ले सका है, तो उसे 'त्वरा संन्यास' दिलाया जाता था। संन्यास लेने की प्रक्रिया कुछ ही समय में चिन्ह पूजा की तरह सम्पन्न कर दी जाती थी। वह कृत्य हम प्रतिदिन सोते समय स्वयं ही पूरा कर लिया करें, तो इसे उच्चकोटि की आध्यात्मिक साधना ही कहा जायगा। दिन भर जिस परिवार की सेवा की गयी वह ईश्वर का उद्यान था । उसे सुविकसित बनाने के लिये अपना उत्तरदायित्व निवाहा गया, अब मालिक को सौंपकर छुट्टी पर जाया जा रहा है । धन–वैभव जो कुछ भी अपने सुपुर्द था, वह ईश्वर की सम्पत्ति था, उसे उसी के हवाले करके स्वयं खाली हाथों विदाई ली जा रही है । शरीर और मन यह औजार वाहन भी ईश्वर के कारखाने से किराये पर मिले थे, उन्हें भी यथास्थान जमा करके एकाकी अपने घर लौटा जा रहा है। यह भावनायें सोते समय की हैं । उनके कल्पना चित्र मनःक्षेत्र पर उतारते हुए शयन करने का नित्य नियम बना लिया जाय, तो संन्यासी एवं वैरागी की वह कुछ समय के लिये उत्पन्न की गयी मनःस्थिति अगले चौबीस घण्टों तक आत्म–जागृति का उत्साह बनाये रह सकती है । दूसरे दिन फिर इस प्रकार उसे सजग–सजीव किया जा सकता है ।

प्रातःकाल उठते ही एक दिन के लिये मिला जीवन रूपी सौभाग्य

और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की बात मनःक्षेत्र पर भली प्रकार उभारी जाय । आँख खुलने से लेकर शैया त्याग कर जमीन पर पैर रखने तक के नये जीवन की प्रसन्नता और उसके श्रेष्ठतम सदुपयोग की सुव्यवस्था बनाने की बात ही सोचते रहा जाय । उतने ही समय में दिनचर्या का निर्धारण उसके साथ मनोयोगपूर्वक आदर्शवादी चिन्तन का नियोजन किस प्रकार होगा, इसकी रूपरेखा बना लेनी चाहिये । यह कार्य प्रातःकालीन ब्रह्म संध्या की तरह है । इसे अवकाश न मिलने की शिकायत किये बिना, कोई भी बिना किसी कठिनाई, विधि–विधान या साधन उपकरण के अत्यन्त सरलतापूर्वक करता रह सकता है । इसे 'आत्मबोध' की योग साधना कहा जाता है ।

सायं सन्ध्या के लिये रात्रि को सोते समय 'हर रात नयी मौत' के सूत्र को अन्तःक्षेत्र में भावनापूर्वक चित्रित किया जाना चाहिये, संवेदना जितनी गहरी होगी, प्रतिक्रिया उतनी ही प्रखरतापूर्वक उभरेगी । वस्त्र साधारण पहने हुए भी, काम–काज गृहस्थों जैसा करते हुए भी संन्यासी की, अनासक्त कर्मयोगी की मनःस्थिति इस साधना के आधार पर जितनी सरलतापूर्वक बन सकती है, उतनी अन्य किसी प्रकार भी नहीं । 'तत्त्व बोध' की यह साधना भी ऐसी है, जिसके लिये समय न मिलने, साधन न होने, मन न लगने जैसी शिकायत करने का कोई अवसर नहीं है ।

सूर्योदय और सूर्यास्त काल को संध्या कहते हैं । उस पुण्य बेला को आत्म–साधना के लिये सुरक्षित रखे जाने का विधान है । इसी विधान की निद्रा को रात्रि और जागृति को दिन मानते हुए उनकी संधि बेला को संध्याकाल कहा जा सकता है । इस प्रकार उठते समय को 'आत्मबोध और सोते समय की तत्त्व बोध' साधना को व्यावहारिक जीवन को प्रभावित करने वाली उच्चस्तरीय साधना कहा जा सकता है । सरलता और प्रभावोत्पादक क्षमता की दृष्टि से उसे अद्वितीय माना जा सकता है । 'हर दिन नया जन्म, हर रात नई मौत' का जीवन सूत्र जो जितनी गहराई के साथ हृदयंगम और कार्यान्वित कर सकेगा वह उतनी ही तीव्रतापूर्वक आत्मिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होगा, यह निश्चित है ।

आन्तरिक उत्कर्ष के दो सुदृढ़ अवलम्बन–चिन्तन–मनन

आत्मिक प्रगति का भवन चार दीवारों से मिलकर बनता है । इस तख्त में चार पाये हैं । चारों दिशाओं के चार मुखों से निकले हुए चार वेदों में इसी ज्ञान–विज्ञान का वर्णन है । चार वर्ण, चार आश्रमों का विभाजन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया गया है । इन्हें (१) आत्म–चिन्तन (२) आत्म सुधार (३) आत्म निर्माण और (४) आत्म विकास के नाम से पुकारा जाता है । इन्हें एक–एक करके नहीं वरन् समन्वित रूप से सम्पन्न किया जाता है । रोटी, साग, चावल, दाल का आहार मिला–जुला कर करते हैं । ऐसा नहीं होता कि कि कुछ समय तक दाल ही पीते रहें, कुछ दिन शाक खाकर रहें, फिर चावल खाया करें और बहुत दिन बाद केवल रोटी पर ही निर्भर रहें । स्कूली पढ़ाई में भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास की पढ़ाई साथ चलती है, ऐसा नहीं होता कि एक वर्ष भाषा दूसरे वर्ष गणित तीसरे वर्ष भूगोल और चौथे वर्ष केवल इतिहास ही पढ़ाया जाय । धोती, कुर्त्ता, टोपी, जूता चारों ही पहनकर घर से निकला जाता है । ऐसा नहीं होता कि कुछ वर्ष मात्र जूता पहनकर रहें और पीछे जब धोती पहनना आरम्भ करें तो उतना ही पर्याप्त समझें तथा जूता, कुर्त्ता, टोपी को उपेक्षित कर दें । लिखने में कागज, कलम, स्याही और अँगुलियों का समन्वित प्रयोग होता है । एक बार में एक ही वस्तु का प्रयोग करने से लेखन कार्य सम्भव न हो सकेगा । शरीर में पाँच तत्व मिलकर काम करते हैं और चेतना को पाँचों प्राण मिलकर गति देते हैं । एक तत्व पर या एक प्राण पर निर्भर रहा जाय तो जीवन का कोई स्वरूप ही न बन सकेगा । भोजनालय में आग, पानी, खाद्य पदार्थ एवं बर्तन उपकरणों के चारों ही साधन चाहिये । इसके बिना रसोई पक सकना कैसे सम्भव होगा ? आत्म–उत्कर्ष के लिये (१) अपनी अवांछनीयताओं को ढूँढ़ निकालना (२) कुसंस्कारों के प्रति प्रबल संघर्ष करके उन्हें परास्त करना (३) जो सत्प्रवृत्तियाँ अभी स्वभाव में सम्मिलित नहीं हो पायी हैं, उन्हें प्रयत्नपूर्वक सीखने का, अपनाने का प्रयत्न करना (४) उपलब्धियों का प्रकाश दीपक की तरह सुविस्तृत क्षेत्र में वितरित करना । यह चार

कार्य समन्वित रूप से सम्पन्न करते चलने की आवश्यकता पड़ती है । इन्हीं चारों को तत्ववेत्ताओं ने आत्म–चिन्तन, आत्म–सुधार, आत्म–निर्माण और आत्म–विकास के नाम से निरूपित किया है ।

इन चारों प्रयोजनों को दो भागों में बाँट कर दो–दो युग्म बनते हैं । एक को मनन दूसरे को चिन्तन कहते हैं । मनन से आत्म समीक्षा का और अवाछनीयताओं का परिशोधन आता है । चिन्तन से आत्म–निर्माण और आत्म–विकास की प्रक्रिया जुटती है ।

इन दोनों को आत्म–साधन का अविच्छिन्न अंग माना गया है । प्रातःकाल उठते समय, रात्रि को सोते समय अथवा अन्य किसी निश्चिन्त, शान्त, एकान्त स्थिति में न्यूनतम आधा घण्टे का समय इस प्रयोजन के लिये निकाला जाना चाहिये । मनन को प्रथम और चिन्तन को द्वितीय चरण माना जाना चाहिये । दर्जी पहले कपड़े काटता है, पीछे उसे सींता है । डाक्टर पहले नस्तर लगाता है, पीछे मरहम–पट्टी करता है । पहले नींव खुदती है और पीछे इमारत चुनी जाती है । यों यह दोनों ही कार्य मिले–जुले हैं और तनिक से अन्तर के साथ प्रायः साथ–साथ ही चलते हैं, फिर भी यदि प्रथम–द्वितीय का प्रश्न हो, तो मनन को पहला और चिन्तन को दूसरा चरण कहा जायगा । इस प्रक्रिया के लिये पूजा–उपचार की तरह कोई विशेष शारीरिक, मानसिक स्थिति बनाने की या पूजा–उपचार जैसी साधन–सामग्री एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं है । चित्त का शान्त और वातावरण का कोलाहल रहित होना ही इसके लिये पर्याप्त है । प्रातः–सायं का समय खाली न हो तो सुविधा का कोई अन्य समय निर्धारित किया जा सकता है । आधा घण्टे की सीमा भी अनिवार्य नहीं है, यह काम चलाऊ मापदण्ड है । इसे आवश्यकतानुसार कम या अधिक भी किया जा सकता है, पर अच्छा यही है कि उसमें क्रम, समय का निर्धारण रहे । नियत समय पर नियमित रूप से अपनाई गयी कार्य पद्धति अस्त–व्यस्त एवं अव्यवस्थित क्रिया–प्रक्रिया से कितनी अधिक फलदायक होती हैं, इसे हर कोई जानता है ।

आत्म–चिन्तन वस्तुतः अपने आप की समीक्षा है । अपने दोष दुर्गुणों को ढूँढ़ निकालने का प्रयास भी इसे कहा जा सकता है । प्रयोगशालाओं में पदार्थों का विश्लेषण वर्गीकरण होता है और देखा जाता है कि इस संरचना में कौन–कौन तत्व मिले हुए हैं ? शवच्छेद

की प्रक्रिया में देखा जाता है कि भीतर के किस अवयव की क्या स्थिति थी, उनमें कहीं चोट या विषाक्तता के लक्षण तो नहीं थे। रोगी की स्थिति जानने के लिये उसके मल, मूत्र, ताप, रक्त, धड़कन आदि की जाँच पड़ताल की जाती है। निदान के उपरान्त ही सही उपचार बन पड़ता है। ठीक यही बात आत्म-विश्लेषणों के सम्बन्ध में है। आत्म-चिन्तन का-आत्म-समीक्षा का यही उद्देश्य है।

एक सज्जन, शालीन, संभ्रान्त, सुसंस्कृत नागरिक का स्वरूप क्या होना चाहिये ? उसके गुण, कर्म, स्वभाव में किन शालीनताओं का समावेश होना चाहिये। इसका एक ढांचा सर्वप्रथम अपने मस्तिष्क में खड़ा किया जाय। मानवी मर्यादा और स्थिति क्या होनी चाहिये ? इसका स्वरूप निर्धारण कुछ कठिन नहीं है। दिनचर्या की दृष्टि से सुव्यवस्थित, श्रम की दृष्टि से स्फूर्तिवान, मानसिक दृष्टि से सक्षम, व्यवहार की दृष्टि से कुशल, चिन्तन की दृष्टि से दूरदर्शी विवेकवान्, आत्मानुशासन की दृष्टि से प्रखर, व्यक्तित्व की दृष्टि से आत्मावलम्बी और आत्म-सम्मानी हर श्रेष्ठ मनुष्य में यह विशेषतायें होनी चाहिये। चरित्र की दृष्टि से उदार और स्वभाव की दृष्टि से मृदुल एंव हँसते-हँसाते रहने वाला होना चाहिये। सादगी और सज्जनता मिले-जुले तत्व हैं। आन्तरिक विभूतियाँ और बाह्य साधन सम्पत्तियों का सुव्यवस्थित सदुपयोग कर सकने वालों को सुसंस्कृत कहते हैं। अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को समझने वाले और उनके पालन को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर चलने वालों को सभ्य कहा जाता है। ऐसी ही विशेषताओं से सम्पन्न व्यक्ति को सच्चे अर्थों में 'मनुष्य' कहा जा सकता है। 'मानवता' से, मानवी सद्गुणों से विभूषित व्यक्ति ही मानव समाज का सभ्य सदस्य कहला सकता है। ऐसे सद्गुण सम्पन्न मनुष्य को मापदण्ड मानकर उसके साथ तुलनात्मक समीक्षा करने से ही आत्म-चिन्तन का उद्देश्य पूर्ण होता है। मानदण्ड न हो तो अपने दोषों और गुणों का कुछ पता ही न चलेगा। दुष्टों से अपनी तुलना की जाय तो जो कुछ हम हैं वह भी आत्मिक श्रेष्ठता की अनुभूति होगी और यदि अत्यधिक उच्च स्थिति के महामानवों से तुलना की जाय तो सामान्य स्थिति रहते हुए भी अपनी स्थिति असंतोषजनक और गई-गुजरी प्रतीत होती रहेगी। नाप-तौल के लिये बाँट, गज,

मीटर आदि की जरूरत पड़ती है । तुलनात्मक आधार अपनाने पर ही समीक्षा सम्भव होती है अन्यथा वस्तुस्थिति का निरूपण संभव ही न हो सकेगा । शरीर का तापमान कितना रहना चाहिये, यह विदित रहने पर ही बुखार चढ़ने का, शीत के दबाने की बात जानी जा सकती है । मध्यवर्ती रक्तचाप का ज्ञान रहने पर ही नापने वाला यह बता सकता है कि 'ब्लड प्रेशर' घटा हुआ है या बढ़ा हुआ । इसी प्रकार एक सज्जनता एवं मानवतावादी मनुष्य का जीवन स्तर निर्धारित करने और उसके साथ अपने को तौलने में ही अपनी हेय, मध्यम एवं उत्तम स्थिति का विवेचन, विश्लेषण, निर्धारण सम्भव हो सकेगा ।

हम जिन दुष्प्रवृत्तियों के लिये दूसरों की निन्दा करते हैं, उनमें से कोई अपने स्वभाव में सम्मिलित तो नहींहै, जिनके लिये हम दूसरों से घृणा करते हैं, वैसी दुष्प्रवृत्तियाँ अपने में तो नहीं हैं ? जैसा व्यवहार हम दूसरों से अपने लिये नहीं चाहते, वैसा व्यवहार हम दूसरों के साथ तो नहीं करते ? जैसे उपदेश हम आये दिन दूसरों को दिया करते हैं, वैसे आचरण अपने हैं या नहीं ? जैसी कि हम प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा चाहते हैं वैसी विशेषतायें अपने में हैं या नहीं ? ऐसे प्रश्न अपने आप से पूछने और सही उत्तर पाने की चेष्टा की जाय तो अपने गुण–दोषों का वर्गीकरण ठीक तरह हो सकना सम्भव हो जायगा ।

यों यह कार्य है अति कठिन । हर मनुष्य में अपने प्रति पक्षपात करने की दुर्बलता पाई जाती है । आँखें बाहर को देखती हैं, भीतर का कुछ पता नहीं । कान बाहर के शब्द सुनते हैं, अपने ह्रदय और फेंफड़ों से कितना अनवरत ध्वनि प्रवाह गुंजित होता है, उसे सुन ही नहीं पाते । इसी प्रकार दूसरे के गुण–अवगुण देखने में रुचि भी रहती है और प्रवीणता भी, पर ऐसा अवसर कदाचित ही आता है, जब अपने दोषों को निष्पक्ष रूप से देखा और स्वीकारा जा सके । आमतौर से अपने गुण ही गुण दीखते हैं, दोष तो एक भी नजर नहीं आता । कोई दूसरा बताता है तो वह शत्रुवत् प्रतीत होता है । जिस कार्य को कभी भी न किया हो, वह बन ही नहीं पड़ता । आत्म–समीक्षा कोई कब करता है ? अस्तु वह प्रक्रिया ही कुण्ठित हो जाती है । अपने दोष ढूँढ़ने में काफी कठोरता बरतने की क्षमता

उत्पन्न हो जाय, तो वस्तुस्थिति समझने और सुधार के लिये प्रयत्न करने का अगला चरण उठाने में सुविधा होती है ।

दोष–दुर्गुणों के सुधारने के लिये अपने आपसे संघर्ष करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं । गीता में जिस महाभारत का उल्लेख और जिसमें भगवान् ने हठपूर्वक जो कार्य नियोजित किया था, वह अन्तःसंघर्ष ही था । भगवान के अवतरण में अधर्म के नाश और धर्म के संस्थापन की प्रतिज्ञा जुड़ी जुड़ी हुई है । अवतार इसी प्रयोजन के लिये होते हैं । अन्तःकरण में जब भी भगवान अवतरित होते हैं, तब विचार और व्यवहार के साथ लिपट कर सम्बन्धियों जैसी प्रिय लगने वाली असुरता से लड़ने के लिये कटिबद्ध होना पड़ता है । हर अवतार को असुरों को परास्त करने और देवत्व को जिताने का कार्य अनिवार्य रूप से करना पड़ा है । इस प्रक्रिया को वैयक्तिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियों का निराकरण और सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन कह सकते हैं । ईश्वर की दिव्य ज्योति जिस भी अन्तरात्मा में प्रकट होगी उसमें प्रथम स्फुरणा यही होगी की जीवन के जिस भी क्षेत्र में दुष्ट, दुर्बुद्धि छिपी पड़ी है और दुष्कर्मों के लिये ललचाती है उसे ताड़का, सूर्पनखा, पूतना की तरह निरस्त कर दिया जाय ।

बुरे विचारों को अच्छे विचारों के काटा जाता है और बुरी आदतों के स्थान पर नई आदतों को अभ्यास में लाना पड़ता है । इस कार्य में एक प्रकार से अन्तः युद्ध जैसी परिस्थिति उत्पन्न होती है । यह परिवर्तन अनायास ही, इच्छा मात्र से हो सकना संभव नहीं । प्रचण्ड मनोबल और संकल्प शक्ति का उपयोग करने से ही यह हेर–फेर होता है । विष को विष से मारा जाता है । काँटे को काँटे से निकाला जाता है और चाँटे का जबाव घूँसे से दिया जाता है । सेना के साथ सेना लड़ती है । टैंक तोड़ने के लिये तोप के गोले बरसाने पड़ते हैं । संघर्ष में समतुल्य बल का प्रयोग करना पड़ता है । मस्तिष्क में भरे हुए कुविचारों को सद्विचारों से काटना पड़ता है । निकृष्टता की ओर आकर्षित करने वाले वातावरण के प्रभाव को निरस्त करने के लिये उत्कृष्टता के लोक में अपने को पहुँचाना होता है। यह कार्य स्वाध्याय और सत्संग की सहायता से ही सम्भव हो सकता है । अपने समीपवर्ती लोग प्रायः स्वार्थपरता और निकृष्टता की दिशा में प्रेरणा देते हैं ।

इसका प्रतिद्वन्दी वातावरण इर्द-गिर्द कठिनाई से दीख पड़ेगा । ऐसी दशा में यही उचित है कि श्रेष्ठ सज्जनों के, महामानवों के विचार उनके सद्ग्रन्थों के सहारे पढ़ने, ग्रहण करने का प्रयत्न करें । उनके जीवन चरित्र पढ़ें और आदर्शवादी प्रेरणाप्रद प्रसंगों एवं व्यक्तियों को अपने सामने रखें । उस स्तर के लोग प्रायः सत्संग के लिये सदा उपलब्ध नहीं रहते, यदि होते भी हैं तो उनके प्रवचन और कर्म में अन्तर रहने से समुचित प्रभाव नहीं पड़ता । ऐसी दशा में सरल और निर्दोष तरीका यही है कि ऐसे सत्साहित्य का नित्य-नियमित रूप से अध्ययन किया जाय, जो जीवन की समस्याओं को सुलझाने, ऊँचा उठाने और आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता हो । ऐसा साहित्य न केवल पढ़ा ही जाय वरन् प्रस्तुत विचारधारा को व्यावहारिक जीवन में उतारने के लिये उत्साह भी दिखाया जाय । और सोचा जाय कि इस प्रकार की आदर्शवादिता अपने में किस प्रकार उत्पन्न की जा सकती है । इसके लिये योजनायें बनाते रहा जाय और परिवर्तन काल में जो उलट-पुलट करनी पड़ेगी उसका मानसिक ढाँचा खड़ा करते रहा जाय । यही है आन्तरिक महाभारत की की पृष्ठभूमि । प्रत्यक्ष संग्राम तब खड़ा होता है, जब अभ्यस्त गन्दे विचारों को उभरने न देने के लिये कड़ी नजर रखी जाती है और जब भी वे प्रबल हो रहे हों, तभी उन्हें कुचलने के लिये प्रतिपक्षी सद्विचारों की सेना सामने ला खड़ी की जाती है । व्यभिचार की ओर जब मन चले तो इस मार्ग पर चलने की हानियों का फिल्म चित्र मस्तिष्क में घुमाया जाय और संयम से हो सकने वाले लाभों का, उदाहरणों का सुविस्तृत दृश्य आँखों के सामने उपस्थित कर दिया जाय । यह कुविचारों और सद्विचारों की टक्कर है । यदि मनोबल प्रखर है और न्यायाधीश जैसा विवेक जागृत हो तो कुविचारों का परास्त होना और पलायन करना सुनिश्चित है । सत्य में हजार हाथी के बराबर बल होता है । आसुरी तत्व देखने में तो आकर्षक और प्रबल प्रतीत होते हैं, पर जब सत्य की अग्नि के साथ उनका पाला पड़ता है तो फिर उनकी दुर्गति होते भी देर नहीं लगती । काठ की हाँड़ी की तरह जलते और कागज की नाव की तरह गलते हुए भी उन्हें देखा जा सकता है ।

अभ्यस्त कुसंस्कार आदत बन जाते हैं और व्यवहार में अनायास

ही उभर-उभर कर आते रहते हैं । इनके लिये भी विचार संघर्ष की तरह कर्म संघर्ष की नीति अपनानी पड़ती है । थल सेना से थल सेना लड़ती है और नभ सेना के मुकाबले नभ सेना भेजी जाती है । जिस प्रकार कैदियों को नयी बदमाशी खड़ी कर देने से रोकने के लिये जेल के चौकीदार उन पर हर घड़ी कड़ी नजर रखते हैं, वही नीति दुर्बुद्धि पर ही नहीं दुष्प्रवृत्तियों पर भी रखनी पड़ती है। जो भी उभरे उसी से संघर्ष खड़ा कर दिया जाय। बुरी आदतें जब कार्यान्वित होने के लिये मचल रही हों, तो उनके स्थान पर उचित सत्कर्म ही करने का आग्रह खड़ा कर देना चाहिये और मनोबलपूर्वक अनुचित को दबाने और उचित को अपनाने का ही हठ ठान लेना चाहिये। मनोबल दुर्बल होगा तो ही हारना पड़ेगा अन्यथा सत्साहस जुटा लेने पर श्रेष्ठ स्थापना से सफलता ही मिलती है। घर में बच्चे जाग रहे हों, बुड्ढे खाँस रहे हों, तो भी मजबूत चोर के पाँव काँपने लगते हैं और वह उल्टे पैरों लौट जाता है। ऐसा ही तब होता है, जब दुष्प्रवृत्तियों की तुलना में सत्प्रवृत्तियों को साहसपूर्वक अड़ने और लड़ने के लिये खड़ा कर दिया जाता है ।

छोटी बुरी आदतों से लड़ाई आरम्भ करनी चाहिये और उनसे सरलतापूर्वक सफलता प्राप्त करते हुए क्रमशः अधिक कड़ी, अधिक पुरानी और अधिक प्रिय बुरी आदतों से लड़ाई आरम्भ करनी चाहिये । छोटी सफलतायें प्राप्त करते चलने से साहस एवं आत्म-विश्वास बढ़ता है और इस आधार पर अवांछनीयताओं के उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्तियों के संस्थापन में सफलता मिलती चली जाती है। यह प्रयास देर तक जारी रहना चाहिये। थोड़ी-सी सफलता से निश्चिन्त नहीं हो जाना चाहिये। लाखों योनियों के कुसंस्कार विचार मात्र से समाप्त नहीं हो जाते । वे मार खाकर अन्तर्मन के किसी कोने में जा छिपते हैं और अवसर पाते ही छापामारों की तरह घातक आक्रमण करते हैं। इनसे सतत सजग रहने की आवश्यकता है । यह सतर्कता अनवरत रूप से आजन्म बरती जानी चाहिये कि कहीं बेखबर पाकर दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्ति की घातें फिर न पनपने लगें ।

आत्म-निर्माण का तीसरा चरण इस प्रयोजन के लिये है कि श्रेष्ठ सज्जनों में गुण, कर्म, स्वभाव की जो विशेषतायें होनी चाहिये

उनकी पूर्ति के लिये योजनाबद्ध प्रयत्न किया जाय, सद्गुणों की प्रतिष्ठापना भी तो होनी चाहिये । कटीली झाड़ियाँ उखाड़ कर साफ कर दी गयीं वह तो आधा ही प्रयोग हुआ । आधी बात तब बनेगी, जब उस भूमि पर सुरम्य उद्यान लगाया जाय और उसे पाल-पोस कर बड़ा किया जाय । बीमारी दूर हो गयी यह आधा काम है । दुर्बल स्वाध्याय को बलिष्ठता की स्थिति तक ले जाने के लिये जिस परिष्कृत आहार-बिहार को जुटाया जाना आवश्यक है, उसकी ओर भी तो ध्यान देने और प्रयत्न करने में लगना चाहिये ।

आलस्य दूर करने की प्रतिक्रिया श्रम-शीलता में समुचित रुचि एवं तत्परता के रूप में दृष्टिगोचर होनी चाहिये । प्रमाद से पिण्ड छूटा हो, लापरवाही और गैर-जिम्मेदारी हटा दी हो, तो उसके स्थान पर जागरूकता, तन्मयता, नियमितता, व्यवस्था जैसे मनोयोग का परिचय मिलना चाहिये । मधुरता, शिष्टता, सज्जनता, दूरदर्शिता, विवेकशीलता, ईमानदारी, संयमशीलता, मितव्ययता, सादगी, सहृदयता, सेवा भावना जैसी सत्प्रवृत्तियों में ही मानवी गरिमा परिलक्षित होती है । उन्हें अपनाने स्वभाव का अंग बनाने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा जाना चाहिये । आमतौर से लोग धन उपार्जन को प्रमुखता देते हैं और उसी के लिये अपना श्रम, समय, मनोयोग लगाये रहते हैं । उत्कर्ष के इच्छुकों को सम्पत्ति से भी अधिक सद्गुणों की विभूतियों को महत्व देना चाहिये । परिष्कृत व्यक्तित्व ही वह कल्पवृक्ष है, जिस तक पहुँचने वाला भौतिक और आत्मिक दोनों ही क्षेत्रों को सफलता प्राप्त करता है । धन उपार्जन में जितनी तत्परता बरतनी पड़ती है, उससे कम नहीं वरन् कुछ अधिक ही तत्परता सद्गुणों को, स्वभाव का अंग बनानेमें बरतनी पड़ती है । धन तो उत्तराधिकार में, स्वल्प श्रम से, संयोगवश अथवा ऋण अनुदान से भी मिल सकता है, पर सद्गुणों की सम्पदा एकत्रित करने में तो तिल-तिल करके अपने ही प्रयत्न जुटाने पड़ते हैं । यह पूर्णतया अपने ही अध्यवसाय का प्रतिफल है । उत्कृष्ट चिन्तन और आदर्श कर्तृत्व अपनाये रहने पर यह सम्पदा क्रमिक गति से संचित होती है । चंचल बुद्धि वाले नहीं संकल्प-निष्ठ सतत प्रयत्नशील और धैर्यवान् व्यक्ति ही इस वैभव का उपार्जन कर सकने में समर्थ होते हैं । चक्की के दोनों पाटों के बीच से गुजरने वाला अन्न ही आटा बनता है । सद्विचार और सत्कर्म के दबाव से व्यक्तित्व

का सुसंस्कृत बन सकना सम्भव होता है । अपना लक्ष्य यदि आदर्श मनुष्य बनना हो तो इसके लिये आवश्यक उपकरण अलंकार जुटाये जाते रहेंगे । इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम समयानुसार आत्म–निर्माण के रूप में परिलक्षित होता दिखाई देगा ।

आत्मोत्कर्ष की अन्तिम सीढ़ी आत्म विकास है । इसका अर्थ होता है–आत्मभाव की परिधि का अधिकाधिक विस्तृत क्षेत्र में विकसित होना । जिनका स्वार्थ अपने शरीर और मन की सुविधा तक सीमित है, उन्हें नर–कीटक कहा जाता है । जो इससे कुछ आगे बढ़कर ममता को परिवार के लोगों तक सीमाबद्ध किये हुए हैं, वे नर पशु की श्रेणी में आते हैं । आमतौर से सामान्य मनुष्य इन्हीं वर्गों में गिने जाने योग्य चिन्तन एवं क्रिया–कलाप अपनाये रहते हैं । उनका स्वार्थ इस परिधि से आगे नहीं बढ़ता । जीवन सम्पदा के इसी कुचक्र में भ्रमण करते हुए कोल्हू के बैल जैसी जिन्दगी पूरी कर लेते हैं । मनुष्य का पद बड़ा है । अन्य प्राणियों की तुलना में ईश्वर ने उसे अनेकों असाधारण क्षमता दिव्य धरोहर की तरह दी हैं और अपेक्षा की है कि उन्हें इस संसार को समुन्नत, सुसंस्कृत बनाने के लिये प्रयुक्त किया जाय । मानवी कलेवर ईश्वर की संसार की सबसे श्रेष्ठ कलाकृति है । इसका सृजन उच्च उद्देश्यों की पूर्ति के लिये हुआ है । इस निर्माण के पीछे जो श्रम लगा है, उसमें सृष्टा का यह उद्देश्य है कि मनुष्य उसके सहयोगी की तरह सृष्टि की सुव्यवस्था में संलग्न रहकर उसका हाथ बँटाये । यदि इस जीवन रहस्य को भुला दिया जाय और पेट प्रजनन के लिये, लोभ मोह के लिये, वासना–तृष्णा के लिये ही इस दिव्य अनुदान को समाप्त कर दिया जाय तो समझना चाहिये कि पिछड़ी योनियों के तुल्य ही बने रहा गया और जीवन का उद्देश्य नष्ट हो गया ।

सृष्टि के मुकुटमणि कहे जाने वाले मनुष्य का गौरव इसमें है कि उसकी चेतना व्यापक क्षेत्र में सुविस्तृत हो । शरीर और परिवार का उचित निर्वाह करते हुए भी श्रम, समय, चिन्तन और साधनों का इतना अंश बच रहता है कि उससे परमार्थ प्रयोजनों की भूमिका निबाही जाती रह सके । आत्मीयता का विस्तार होने से शरीर और कुटुम्बियों की ही तरह सभी प्राणी अपनेपन की भाव श्रृंखला में बँध जाते हैं

और सबका दुःख–सुख अपना दुःख–सुख बन जाता है। वसुधैव कुटुम्बकम् की, विश्व परिवार की, आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावनायें बलवती होने पर मनुष्य का स्वार्थ–परमार्थ में परिणत हो जाता है। जो अपने लिये चाहा जाता था वही सबको मिल सके ऐसी आकांक्षा जगती है। जो व्यवहार, सहयोग दूसरों से अपने लिये पाने का मन रहता है, उसी को स्वयं दूसरों के लिये देने की भावना उमगती रहती है। लोकमंगल की, जन कल्याण की, सेवा–साधना की इच्छायें जगती हैं और योजनायें बनती हैं। ऐसी स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति ससीम न रहकर असीम बन जाता है और उसका व्यक्तित्व व्यापक परिधि में सत्प्रवृत्तियों का संवर्धक बन जाता है। ऐसे व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं को पैरों तले कुचल कर फेंक देते हैं। अपनी आवश्यकताओं को घटाते हैं और निर्वाह की न्यूनतम आवश्यकतायें पूरी करने के उपरान्त अपनी समस्त क्षमताओं और सम्पदाओं को विश्व–कल्याण के सत्प्रयोजनों में लगाये रहते हैं। देश, धर्म, समाज, संस्कृति के उत्कर्ष के लिये किये गये प्रयत्नों में उन्हें इतना आनन्द आता है, जितना स्वार्थ परायण व्यक्तियोंको विपुल धन प्राप्त करने पर भी नहीं मिल सकता। संसार के इतिहास में, आकाश में महामानवों के जो उज्ज्वल चरित्र झिलमिला रहे हैं, वे सभी इसी आत्मविकास के मार्ग का अवलम्बन करते हुए महानता के उच्च शिखर पर पहुँचे थे। सन्त, सुधारक, शहीद यह तीन सामाजिक जीवन के सर्वोच्च सम्मान हैं। महात्मा, देवात्मा और परमात्मा यह तीन अध्यात्म जीवन की समग्र प्रगति के परिचायक स्तर हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिये आत्म–विकास के सिवाय और कोई मार्ग नहीं। व्यक्तिवाद को समूहवाद में विकसित कर लेना विश्व शान्ति का आधार माना गया है। अपनेपन को हम जितने व्यापक क्षेत्र में विस्तृत कर लेते हैं, उतने ही विश्वासपूर्वक यह कह सकते हैं कि मनुष्य जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने का सुनिश्चित मार्ग मिल गया।

देवाधिदेव आत्मदेव की साधना

देवत्व और असुरत्व इस संसार में सर्वत्र विद्यमान है। वह मानवी अन्तरंग में भी मौजूद है। दोनों में से जो जिसे वरण करता है, वह उसे प्राप्त कर लेता है। संसार में दुष्ट अनाचारी तत्व भरे पड़े हैं

यदि उन्हें ढूँढ़ा जाय–संपर्क बनाया और अपनाया जाय, तो सहज ही उनके भीतर–बाहर असुरता का ही बाहुल्य होगा। अभिरुचि का आकर्षण सब दिशाओं से अपने स्तर के व्यक्ति तथा साधन इकट्ठे कर लेता है और जिस रंग में मन रंगा था देखते–देखते उसी तरह का वातावरण पूरी तरह घिर जाता है। यही बात असुरता के सम्बन्ध में लागू होती है यही देवत्व के सम्बन्ध में भी। आसुरी प्रकृति के मनुष्य को साधन, सहयोगियों तथा परिस्थितियों, सफलताओं की निरन्तर उपलब्धि होती जाती है और आकांक्षा के अनुरूप असुरता के सुदृढ़ दुर्ग में दैवी आकांक्षायें प्रदीप्त हों, उसी दिशा में कदम बढ़ रहे हों, तो सन्त–सज्जनों का सम्पर्क–सत्कर्म करने का वातावरण, सन्मार्ग प्रेरक साधन सहज ही बनने लगते हैं और जीवन–क्रम में देवत्व का सागर हिलोरें लेने लगता है।

बाह्य जगत में संव्याप्त सत और तम–देवत्व और असुरत्व की तरह अन्तरंग में भी यह दोनों प्रवृत्तियाँ यथास्थान विद्यमान रहती हैं। इनमें से जिसे अपनाया बढ़ाया जाय वही पनपती चली जाती है और विचारणा तथा क्रियाशीलता में वही आस्था सक्रिय बनकर झाँकने लगती हैं। आसुरी अभिरुचि वाले व्यक्ति उसी स्तर के विचारों में डूबे रहते हैं, जैसा सोचते हैं वैसे ही उपाय सूझते हैं–साधन ढूँढ़ते हैं और प्रयास करते हैं। फलस्वरूप जीवनक्रम उसी दिशा में चल पड़ता है। अन्तरंग में बोया हुआ आकांक्षाओं का बीज कुछ ही समय में विशाल जीवन वृक्ष बनकर खड़ा हो जाता है यदि आस्थायें सतोगुणी हों, आकांक्षायें देव स्तर की हों तो स्वभावतः मन और बुद्धि का प्रवाह उसी ओर बहेगा। बूँद–बूँद से घट भरने की तरह सत् चिन्तन और सत्कर्मों की सम्पदा मनुष्य को स्वर्गीय विभूतियों से सुसज्जित कर देती हैं और क्रमशः व्यक्तित्व में देव मानव के अधिक स्पष्ट दर्शन होते चले जाते हैं।

देवाधिदेव परब्रह्म को अद्वैत तत्व विज्ञान ने आत्मदेव के रूप में देखा है। सोऽहम्, शिवोऽहम्, तत्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म जैसे सूत्रों में आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है। जीव स्थिति तो तभी तक है, जब तक मल आवरण, विक्षेप और कषाय कल्मष अन्तःकरण पर चढ़े हुए हैं। इन विकारों का शोधन हो जाने

पर तो आत्मा निस्संदेह परमात्मा ही है। तत्वदर्शी सदा से कहते रहे हैं कि ईश्वरीय समस्त महत्तायें नर में बीज रूप से विद्यमान हैं, यदि उन्हें विकसित किया जा सके, तो नर में नारायण की झाँकी तत्काल देखी जा सकती है। साधना का एकमात्र प्रयोजन आत्मशोधन है। अपनी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक मलीनताओं को शुद्ध करने के लिये ही तपश्चर्या उपासना की जाती है। भौतिक विज्ञानी भी यही मानते हैं कि ब्रह्माण्ड की विशालता और परमाणु, जीवाणु परक सत्ता उन समस्त शक्तियों और हलचलों की प्रतिलिपि है, जो इस विशाल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। काय कलेवर एक प्रकार से छोटा ब्रह्माण्ड ही है। यों वह नर कीटकों का घृणित घोंसला भर दीखता है, पर यदि उसे सुव्यवस्थित और परिष्कृत बनाया जा सके, तो शरीर भूलोक का, मन भुवः लोक का और अन्तरात्मा स्वः लोक का प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होगा। तीनों लोकों की त्रिविध सम्पदायें अपने भीतर सार रूप से कूट–कूटकर भरी हुई हैं। जीवन का प्रबलतम पुरुषार्थ उस अप्रकट का प्रकटीकरण करना ही है उसी को साधना तपस्या आदि के नाम से पुकारते हैं।

वेदान्त प्रतिपादित आत्म–ब्रह्म के तत्व–दर्शन का साधना शास्त्र में आत्मदेव के माहात्म्य विस्तार एवं साधन विधान पर विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। शरीर और मन के किन–किन अंग–प्रत्यंगों में कौन–कौन से देवता, नदी, पर्वत, सागर, लोक, तत्व, तीर्थ शक्तिपीठ आदि विद्यमान हैं, इसकी चर्चा भली प्रकार की गयी है और बताया गया है कि जो कुछ बहिरंग जगत में पाया जाता है, उसकी बीज सत्ता अन्तरंग में मौजूद है। अस्तु काय कलेवर को तुच्छ नहीं समझा जाना चाहिये वरन् उसमें श्रेष्ठतम सत्ता की झाँकी की जानी चाहिये। भौतिक सम्पदा का अहंकार तो हेय है, पर आत्मदेव का गौरव हर किसी को अनुभव करना चाहिये और आत्म–गौरव की रक्षा करने वाली, आत्म–गरिमा को ज्योतिर्मय करने वाली रीति–नीति अपनानी चाहिये।

आत्म देव की साधना, उपासना के विधि–'विधानों का अध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत सुविस्तृत उल्लेख है। निराकार साधना में अपने कण–कण को नील वर्ण प्रभाज्योति से ज्योतिर्मय देखने का अभ्यास किया जाता है। आकाश में आत्म–सत्ता तनिक–सी नील आभा लिये

हुए सूर्य के समान प्रकाशवान है और उसकी दिव्य एवं प्रखर किरणें शरीर के रोम–रोम में प्रवेश करके, बलिष्ठता बढ़ा रही हैं, मन में प्रवेश करके मनस्विता को प्रखर कर रही हैं। अन्तरात्मा के भाव संस्थान (हृदय) में प्रवेश करके आत्मशक्ति को ज्वलंत बना रही हैं । अपना सब कुछ ज्योतिर्मय हो रहा है । प्रकाश के सागर में जल मत्स्य की तरह स्वच्छन्द विचरण किया जा रहा है ।

प्रकाश ध्यान का अभ्यास करने के लिये आरम्भ में आँख में दीपक की नील वर्ण शुभ्र ज्योति की स्थापना की जाती है और उस पर त्राटक की तरह पलक खोलते–बन्द करते हुए ज्योति धारणा का अभ्यास किया जाता है । पीछे यह प्रकाश ध्यान बिना किसी दीपक आदि के स्वतः ही दृश्यमान होने लगता है। हलका नील वर्ण शान्ति एवं सात्विकता का प्रतीक है । राम, कृष्ण आदि भगवान के सभी अवतार नील कमल की आभा वाले शरीर धारण किये हुए हैं । दिव्यात्माओं का तेजोवलय भी ऐसा ही नीलिमा युक्त होता है । अस्तु आत्म–ज्योति की ज्योति अवतरण साधना में नील झलक युक्त प्रकाश को ही ध्यान चेतना में प्रतिष्ठापित किया जाता है । दीपक पर त्राटक करते समय उस पर नील आवरण चढ़ा लेते हैं ताकि प्रत्यक्ष प्रकाश भी उसी आभा से युक्त दिखाई पड़े ।

साकार आत्म साधना में अपने शरीर का चित्र ही देव स्थान पर प्रतिष्ठापित किया जाता है । उसी का पूजन, वन्दन और साधन करते हैं। तांत्रिक विधान के अनुसार 'छाया पुरुष' की सिद्धि में अपने ही सूक्ष्म शरीर की सत्ता को प्रखर बनाया जाता है और वह उस साधना क्रम के कारण इतनी सत्तावान हो जाती है कि एक सामर्थ्यवान् अदृश्य मित्र की तरह अभीष्ट सहायता करते रहने के लिये प्रस्तुत रहे । छाया पुरुष के द्वारा दूरवर्ती समाचार मालूम करना, वस्तुयें मँगाना, कामों में सहायता करना जैसे प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं । विक्रमादित्य के पास 'पाँच वीर वैताल" बताये जाते हैं, अलादीन के चिराग के साथ सहायक जिन्नों के सहयोग की किम्बदन्ती प्रचलित हैं । इस स्तर के कार्य छाया पुरुष कर सकता है । मनुष्य काया में अन्नमय कोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश, यह पाँच कोश आवरण हैं । इन पाँचों को ही स्वतंत्र चेतना के रूप

में विकसित किया जा सकता है। पाँच देव यही हैं। इन्हें जागृत कर सके वह पाँच सशक्त सहायकों की महत्वपूर्ण सहायता का लाभ निरन्तर उठाता रह सकता है। यह सभी प्रकारान्तर से छाया पुरुष ही कहे जायेंगे। यों सच बात तो यह है कि प्रत्येक वरदानी देवता अपनी स्वनिर्मित मानस सन्तान ही है। उसमें उतना ही बल रहता है, जितनी अपनी निष्ठा प्रखर होती है। श्रद्धा विश्वास की प्रतिक्रिया का नाम ही देव अनुकम्पा है। देव अनुग्रह से जो कुछ प्राप्त किया जाता है तत्वतः वह आत्म–देवता का ही वरदान होता है। अपनी गरिमा से अपरिचित व्यक्ति को बहिरंग देवता की संरचना करके एक मनोवैज्ञानिक लाभ ही देव साधना द्वारा मिलता है, वस्तुतः उसे अपने लिये अपना अनुदान ही समझा जाना चाहिये।

साकार आत्म साधना के लिये दर्पण का उपयोग किया जाता है। बड़ा दर्पण सामने रखकर उसमें अपना आधा या सम्पूर्ण शरीर ध्यानपूर्वक देखते हैं और उसे परिष्कृत स्तर का देव मानकर उसका पञ्चोपचार पूजन, ध्यान, वन्दन, स्तवन करते हैं। साथ ही यह आस्था जमाते हैं कि इस काय कलेववर में निवास करने वाली 'दिव्य ज्योति' यदि आत्म भाव की भूमिका में जागृत हो उठे तो निश्चित रूप से देव सत्ता सम्पन्न हो सकती है। विश्ववन्द्य महामानवों की पंक्ति में बैठने का उसे अवसर मिल सकता है। मल आवरणों के कषाय–कल्मषों से उसे मुक्ति मिलने वाली है, उसका परिष्कार परिशोधन अब सम्पन्न होने ही वाला है। यह देव अपने अवतरण का पुण्य प्रयोजन पूरा करके ही रहेगा। इस भावना के साथ की गई आत्म देव उपासना अपना दिव्य प्रभाव तत्काल ही दिखाना आरंभ कर देती है। अपने काय कलेवर में परमेश्वर की सत्ता और महत्ता की अनुभूति जितनी गहरी होगी उतनी ही उत्कृष्ट रीति–नीति अपनाने की भावना उमड़ेगी। कहना न होगा कि अन्तःकरण में उत्कृष्टता का उभार ही नर को नारायण बनाया करता है।

साधना की सफलता में वातावरण की महत्ता

साधना में उपयुक्त वातावरण का महत्व अत्यधिक माना गया है । अस्त व्यस्त मनःस्थिति और अनुपयुक्त परिस्थिति में रहते हुए पूजा पाठ का सुव्यवस्थित क्रम बनता ही नहीं । विक्षोभ भरे वातावरण और प्रपंची जंजाल में उलझे रहने के कारण मन को न तो एकाग्र होने का अवसर मिलता है न श्रद्धा संवर्धन के लिए आवश्यक शान्ति प्राप्त करने की सम्भावना बनती है। ऐसी दशा में चिन्ह पूजा के रूप में की गई उपासना भी ऐसे ही अस्त–व्यस्त बनी रहती है । उसका वैसा प्रतिफल मिलता नहीं जैसा कि शास्त्रकारों ने बताया और सच्चे अर्थों में साधना करने वालों ने पाया है । इस असफलता का कारण है साधना के लिए उपयुक्त वातावरण का अभाव । यदि उसकी व्यवस्था बन सके तो आज भी इन प्रतिपादनों को सही पाया जा सकता है, जो साधना से सिद्धि मिलने के रूप में जाने और माने जाते रहे हैं ।

मनुष्य जहाँ भी रहता है वहाँ का वातावरण उसे प्रभावित करता है । वातावरण का अर्थ है–स्थान विशेष की परम्परा और गतिविधियों का समन्वय । वातावरण में भी प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों जैसी ही क्षमता होती है । खाद पानी के मिलने से साधना की सफलता निश्चित हो जाती है। यों भजन भाव कहीं भी किया जा सकता है । उसके लिये रोक–थाम नहीं है, पर मौसम प्रतिकूल होने पर जिस प्रकार पौधे की आवश्यक देखभाल करने के उपरान्त भी वे नहीं फूलते–फलते । उसी प्रकार साधना का विधि–विधान उपयुक्त वातावरण की अपेक्षा रखता है ।

जहाँ जिस स्तर के व्यक्ति रहते हैं–जहाँ जिस प्रकार की हलचलें होती रहती हैं, वहाँ के सूक्ष्म संस्कार भी वैसे ही बन जाते हैं और वे बहुत समय तक अपना प्रभाव बनाये रहते हैं । तपस्वियों का प्राण उनके निवास स्थान के इर्द–गिर्द छाया रहता है । सिंह और गाय एक साथ ऋषि आश्रमों में प्रेमपूर्वक रहते थे । हिरन तथा दूसरे पशु–पक्षी वहाँ निर्भयतापूर्वक पालतू बन जाते थे । ऐसे वातावरण में सहज ही

मानसिक विक्षोभ शान्त होते हैं और साधना के उपयुक्त मनःस्थिति स्वतः बन जाती है ।

वातावरण के प्रभाव की सशक्तता का परिचय देने वाले कितने ही कथा प्रसंग इतिहास में मिलते हैं । महाभारत में भाई–भाई का, सम्बन्धी–सम्बन्धी का युद्ध होना था । निर्णायक स्थिति में पहुँचे बिना वे लोग पुराने सम्बन्धों की भावुकता में कोई अधूरा समझौता कर सकते थे । इस स्थिति को न आने देने के लिये कृष्ण ऐसी भूमि को रणक्षेत्र चुनना चाहते थे, जिसके वातावरण में निष्ठुरता के तत्व अधिक हों । ऐसी भूमि तलाश करने के लिये उनने अपने दूत दूर–दूर तक भेजे । एक दूत ने अपनी जानकारी का ऐसा प्रसंग सुनाया जिससे युद्ध के लिये उपयुक्त भूमि की समस्या हल हो गयी ।

दूत ने आँखों देखा वर्णन बताते हुए कहा–'वर्षा हो रही थी । बड़े भाई ने छोटे भाई को खेत की मेंड़ बाँधकर पानी रोकने के लिये कहा, इस पर छोटा उबल पड़ा । अवज्ञा भरे कटुवचन कहने लगा । सुनते ही बड़े का आवेश चरम सीमा पर जा पहुँचा । उसने तत्काल लाठी से छोटे का सिर फोड़ दिया और उसकी लाश को घसीटते हुए बहते हुए पानी को रोकने के स्थान पर गाड़ दिया ।

एक और ऐसी ही घटना है–श्रवणकुमार अपने अन्धे माता–पिता को तीर्थयात्रा पर ले जा रहे थे । वाहन का प्रबन्ध था नहीं, सो उन्होंने 'कावर' बनाई । दोनों को दो ओर बिठाया और कन्धे पर लाद कर यात्रा कराने लगे । अधिकांश यात्रा तो प्रसन्नतापूर्वक तय कर ली, पर एक क्षेत्र में पहुँचते ही उनका विचार बदल गया । कावर जमीन पर रख दी और माता–पिता से कहा–आप लोगों की आँखें खराब हैं, पैर नहीं । आप लोग अपने पैरों चलिये मैं तो रास्ता बताने भर का काम कर सकता हूँ ।

श्रवणकुमार के पिता इस परिवर्तन पर चकित रह गये । वे ऋषि थे । वस्तुस्थिति को उनने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से जान लिया। उन्होंने पुत्र से सहमति प्रकट की और पैदल चलने को तैयार हो गये । साथ ही यह भी कहा कि इस क्षेत्र से जल्दी से जल्दी बाहर निकल चलना चाहिये अन्यथा कोई भयंकर अनिष्ट होने की आशंका बनी रहेगी । वैसा ही किया गया । वे लोग तेजी से उस क्षेत्र को पार करके आगे चले गये ।

महाभारत की कथा के अनुसार जैसे ही वह क्षेत्र समाप्त हुआ, श्रवणकुमार की आत्मग्लानि उमड़ी और वे अपने कुकृत्य पर फूट-फूट कर रोने लगे । माता-पिता को काँवर पर बिठाकर फिर ले चलने का आग्रह करने लगे । संसार भर में माता-पिता की सेवा का अनुपम आदर्श उपस्थित करके अमर यश पाने का जो अवसर हाथ में था, उसे वे गँवाना नहीं चाहते थे ।

पिता ने श्रवणकुमार को इन बुरे-भले परिवर्तनों का कारण बताते हुए कहा-'बहुत समय पूर्व इस क्षेत्र में 'मय' नामक दानव रहा करता था । वह बड़ा नृशंस था । उसने अपने माता-पिता को मार डाला था । उसी की दुष्टता इस क्षेत्र पर अभी भी किसी न किसी रूप में छाई हुई है । उसी ने तुम्हारे मन पर विद्रोह का भाव भड़काया । अब वह क्षेत्र पीछे रह गया है, तो वह प्रभाव भी समाप्त हुआ और तुम्हारी स्वाभाविक सहज बुद्धि वापिस लौट आई ।

संसार के विभिन्न क्षेत्रों का पर्यवेक्षण किया जाय तो प्रतीत होगा कि क्षेत्रीय विशेषता का वहाँ के पदार्थों और प्राणियों पर कितना प्रभाव पड़ता है । ठण्डे देशों के निवासी मनुष्य गोरे रंग के सुदृढ़ और दीर्घजीवी होते हैं । जहाँ गर्मी अधिक पड़ती है वहाँ स्वास्थ्य गिरे और रंग काले पाये जाते हैं । यही बात वनस्पतियों के सम्बन्ध में भी है । जड़ी-बूटियाँ वही हैं, पर विभिन्न क्षेत्रों में उगाये जाने पर उनके गुणों में न्यूनाधिकता उत्पन्न हो जाती है । हिमालय क्षेत्र में गंगातट पर उगी ब्राह्मी की तुलना में मैदानी क्षेत्रों में नहर-रजवाहों के किनारे उगी हुई ब्राह्मी के गुणों में भारी अन्तर पाया जाता है । यही बात अन्य जड़ी-बूटियों के सम्बन्ध में भी है ।

भुसावल क्षेत्र के केले, नागपुर क्षेत्र के संतरे, लखनऊ के आस-पास के आम-खरबूजे अपनी विशेषताओं के लिये प्रख्यात हैं । काश्मीर के सेव की अपनी विशेषता है । मैसूर के जंगलों में उगे हुए चन्दन वृक्षों में विशिष्ट सुगन्ध होती है । उन्हीं के बीज, पौधे यदि अन्यत्र बोये, उगाये जायें तो वे बढ़ेंगे और फलेंगे तो अवश्य पर उनमें वैसी विशेषतायें न होंगी । अन्न-शाक के गुण-स्वभाव में भी इसी आधार पर बहुत अन्तर पाया जाता है । पंजाब का गेहूँ अन्य प्रान्तों की तुलना में अभी भी बढ़िया होता है । इसका श्रेय या दोष किसान

और माली को उतना नहीं जितना कि उन क्षेत्रों की भूमि और जलवायु को है। संक्षेप में इसे वातावरण का प्रभाव कह सकते हैं। पशुओं में भी इसी प्रकार का अन्तर देखने में आता है। कच्छ, हरियाना, नागौर आदि क्षेत्रों के गाय, बैल कितने दुधारु कितने परिश्रमी होते हैं, यह सर्वविदित है। बंगाल और बिहार में जन्मने वाले गाय, बैल अपेक्षाकृत दुर्बल होते हैं। इनमें नस्ल का उतना श्रेय–दोष नहीं जितना कि जलवायु का होता है। उपरोक्त स्थानों के इन पशुओं का निवास क्षेत्र यदि बदल दिया जाय तो नस्ल में सहज ही अन्तर पड़ता चला जायेगा। विदेशों से मँगाये गये पशु अपने देश में रहने के उपरान्त उन विशेषताओं को खोते चले जाते हैं, जो उनके मूल स्थान में रहती थीं। ठण्डे देशों के रीछ, कुत्ते आदि गर्म क्षेत्रों के चिड़ियाघरों में मुश्किल से ही जी पाते हैं। जो रखे जाते हैं, उनके लिये वैसे ठण्डे वातावरण की व्यवस्था करनी पड़ती है।

वातावरण का प्रभाव पेड़–पौधों और वृक्ष–वनस्पतियों तक ही सीमित रहता हो सो बात नहीं। किसी को बताया न जाये और अज्ञात श्मशान घाट में खड़ा कर दिया जाये, तो अनायास भय लगने लगता है। पशुओं को दिन भर उनके मालिक एक स्थान से दूसरे स्थान लाते ले जाते रहते हैं, पर यदि कोई कसाई उन्हें वध गृह की ओर ले चलने लगता है, तो पशुओं को उनके रोंगटे खड़े हो जाने जैसी स्थिति में भयभीत पाया गया है।

प्रसंग साधना में वातावरण की महत्ता का चल रहा था। विशिष्ट साधनों के लिये हिमालय एवं गंगा तट की बात सोचनी चाहिये। बाह्य शीतलता के साथ आन्तरिक शान्ति का भी तारतम्य जुड़ा रहता है। हिमालय की भूमि ही ऊँची नहीं है, उसकी भूमि संस्कारिता भी ऊँची है। अभी भी इस क्षेत्र के निवासी ईमानदारी और सज्जनता के लिये प्रसिद्ध हैं। घोर गरीबी और अशिक्षा के रहते हुए भी उनकी प्रामाणिकता का स्तर बना हुआ है। हिमालय यात्रियों में से कभी कदाचित ही किसी पहाड़ी कुली से बेईमानी–बदमाशी की शिकायत हुई हो।

प्राचीन काल में हिमालय ही स्वर्ग क्षेत्र कहलाता था। इसके अनेकों ऐतिहासिक प्रमाण अखण्ड–ज्योति में लगातार एक लेखमाला के

रूप में छप चुके हैं । देव मानवों की यही भूमि थी । थोयोसोफी वालों की मान्यता है कि अभी भी दिव्य आत्मायें वहीं निवास करती हैं। चमत्कारों और सिद्धियों की खोज करने वाले प्रत्येक शोधकर्त्ता को हिमालय की कन्दरायें छाननी पड़ी हैं ।

भगवान राम को चारों भाइयों समेत अपनी विशिष्ट साधना के लिये अयोध्या छोड़कर देव प्रयाग के इर्द-गिर्द, गुरु वशिष्ठ के समीप बसना पड़ा था । कृष्ण पले गोकुल में, महाभारत रचाया कुरुक्षेत्र में, बसे द्वारिका में परन्तु साधना हेतु उन्हें भी बद्रिकाश्रम में तपस्या करनी पड़ी । पाण्डवों की अन्तिम साधना इन्द्रप्रस्थ में नहीं हिमालय में हुई थी और उन लोगों ने यहीं तप साधन करते हुए स्वर्गारोहण किया था । भागीरथ राज-काज चलाते हुए उस स्तर की तपश्चर्या नहीं कर सकते थे जिसके आधार पर गंगोत्री में डेरा डाल कर उन्होंने गंगावतरण सम्भव किया । विश्वामित्र राजकाज चलाते हुए गायत्री के दृष्टा ऋषि नहीं बन सकते थे। कण्व ऋषि के आश्रम में पले हुए भरत और वाल्मीकि की कुटी में रहने वाले लव-कुश प्रबल प्रवीण हुए थे। यह लाभ उन्हें किसी होस्टल में रहकर एवं घर की सुख-सुविधाओं को भोगते हुए सम्भव नहीं था । इन्द्र आदि देवताओं का निवास एवं स्वर्ग प्रदेश इसी क्षेत्र में होना सिद्ध किया गया है । कैलाश एवं सुमेरु पर्वत देवताओं के निवास स्थल हैं । नन्दन वन इधर ही है । स्वर्ग चर्चा से सम्बन्धित अनेक प्रमाण इधर मिलते हैं । मध्य एशिया से आर्यों का भारत प्रवेश हिमालय मार्ग से होना और उनका तिब्बत से नीचे उतर कर डेरा डालना प्रायः इतिहासवेत्ताओं द्वारा कहा जाता है । इस मान्यता से देवमानवों की राजधानी इस क्षेत्र में होने की संगति बनती है । हनुमान अश्वत्थामा आदि चिरजीवी महामानवों का निवास स्थान इसी क्षेत्र में माना जाता है । इतिहास साक्षी है कि प्रायः सभी ऋषियों की तपश्चर्यायें इसी क्षेत्र में सम्पन्न हुई हैं ।

गुरु वशिष्ठ की गुफा यहीं थी । व्यास जी और गणेश जी ने मिलकर १८ पुराण इसी क्षेत्र वसोधारा नामक स्थान में लिखे थे । परशुराम, विश्वामित्र, दधीचि जैसे परम प्रतापी तपस्वियों की साधना हिमालय में ही सम्पन्न हुई थी ।

हिमालय शिव का क्षेत्र है । उनका निवास यहीं माना जाता

है । उनकी दोनों धर्म पत्नियाँ इसी भूमि में उपजीं । गंगा, यमुना सहित अनेकों पुण्य नदियों का उद्गम यहीं है । भारत की आध्यात्मिक विभूतियों की उत्पादक भूमि यदि हिमालय को माना जाय तो इसमें तनिक भी अत्युक्ति न होगी । इस मूर्तिमान देवता की छाया में बैठकर कितनों ने न जाने क्या-क्या पाया है ? अभी उसकी वह विशेषता अक्षुण्ण है । जलवायु की दृष्टि से आरोग्य सम्वर्धक तत्वों की विशेषता से भी यह क्षेत्र अपने देश में सर्वोत्तम है । फिर मानसिक शान्ति और आत्मिक प्रगति के लिये जैसा वातावरण चाहिये वैसा यहाँ सदा सर्वदा उपलब्ध रहता है । ब्राह्मी, शिलाजीत, अष्टवर्ग आदि औषधियाँ अन्यत्र भी पाई, उगाई जा सकती हैं, पर हिमालय की भूमि पर जो उगता है, उसमें अत्यधिक मात्रा में उपयोगी तत्व रहते हैं ।

हिमालय की छाया-गंगा की गोद और वहाँ का भाव भरा वातावरण-साथ ही यदि शक्तिशाली संरक्षण मार्गदर्शन मिलता हो, तो उसे साधना का सुअवसर एवं साधक का सौभाग्य ही माना जाना चाहिये । सप्त सरोवर वह तपःस्थली है जहाँ सप्त ऋषियों ने साधना की । यह स्थान आज भी उन विशेषताओं से पूर्ण है, जिनकी साधक को आवश्यकता होती है । ऐसे ही वातावरण में निवास करने का स्वर्गीय दिव्य आनन्द प्राप्त करने के लिये राजा भर्तृहरि बेचैन थे । इसके लिये उन्होंने राजपाट का सारा जंजाल त्यागा ओर योगी का देव जीवन अपनाकर उच्चस्तरीय मनोरथ पूरा करने में सफल हुए । जब तक यह स्थिति न आई तब तक वे उसी के मनोरम सपने देखते रहे ।

भर्तृहरि शतक में उनकी अभिव्यक्ति इस प्रकार है-

गंगातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मज्ञानाभ्यसनविधिना योगनिद्रांगतस्य ।
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशकाः
कण्डूयंते जरठहरिणाः श्रृंगमगे मदीये ।।

"जीवन का वह सौभाग्य-दिवस कब आएगा, जब मैं गंगा तट की हिमांचल-शिला पर पद्मासन लगाकर ब्रह्मानन्द में लीन समाधिस्थ बैठूँगा और वहाँ के बूढ़े हिरन मेरे अंगों को अपने सींगों से खुजलायेंगे ।"

गंगा तट पर साधना का ही अपना महत्व है फिर चारों ओर गंगा घिरी होने के बीचों-बीच जन शून्य द्वीपों में बैठ कर साधना

करने का तो प्रतिफल और भी अधिक विलक्षण होगा । नित्य गंगा स्नान–मात्र गंगाजल पान, टहलना–बैठना गंगा माता की ही गोद में इन विशेषताओं के कारण ब्रह्म वर्चस् साधना के लिये उपयुक्त वातावरण की ही व्यवस्था हुई है । इसे दैवी अनुग्रह एवं सहयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता । आश्रम निर्माण के लिये परम सात्विक धन भी भाव भरी श्रद्धा के लिये अपने को सार्थक बनाने के लिये मचलता आ रहा है, भले ही उसकी मात्रा कितनी ही स्वल्प क्यों न हो । साधना की दृष्टि से गंगा सान्निध्य का महत्व शास्त्रकारों ने इस प्रकार बताया है–

यत्र गंगा महाभागा स देशस्तत्तपोवनम् ।
सिद्धक्षेत्रन्तु तज्ज्ञेय गंगातीरं समाश्रितम् ।।

–कूर्म पुराण

जहाँ पर यह महाभाग गंगा है, वह देश उसका तपोवन होता है । उसको सिद्ध क्षेत्र जानना चाहिये ।

कैलाश और मानसरोवर भारतीय हिमालय क्षेत्र में ही थे और अभी भी हैं । कैलाशवासी शंकर जी के सिर से गंगा प्रवाहित होती है । इसकी संगति तिब्बत में स्थित कैलाश पर्वत से नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ से गंगा का गौमुख तक आना भौगोलिक स्थिति के कारण किसी प्रकार सम्भव नहीं है । गंगोत्री से जेलूखागा घाटी होकर कैलाश करीब ३०० मील है । फिर बीच में कई आड़े पहाड़ आते हैं जिसके कारण भी कोई जलधारा या हिमधारा वहाँ तक नहीं आ सकती । असली शिव लोक इस धरती के स्वर्ग में ही हो सकता है । गंगा ग्लेशियर शिवलिंग के समीप है । स्वर्ग गंगा भी वहीं है । गौरी सरोवर वहाँ मौजूद ही है । इस प्रकार गंगा धारण करने वाले शिव का कैलाश यह हिमालय का हृदय ही हो सकता है । यदि प्राचीन कैलाश यहाँ न रहा होता, तो भागीरथजी यहाँ तप क्यों करते ? वे तिब्बत वाले कैलाश पर ही शिव के समीप क्यों न जाते ? इस पुण्य प्रदेश में शिवलिंग, केदार शिखर और नीलकण्ठ शिखर यह तीनों ही शिवजी के निवास हैं । मानसरोवर का भी इस देवभूमि में होना स्वाभाविक है। सुरालय, हिमधारा, सत्पथ हिमधारा तथा वरुण वन नामों से भी इसी प्रदेश का देवभूमि होना सिद्ध है । अष्ट वसुओं ने जिस

स्थान को अपना निवास बनाया वह वसुधारा भी अलकापुरी के पास ही है । इन सब बातों पर विचार करने से वास्तविक कैलाश और मानसरोवर इसी प्रदेश में अवस्थित सिद्ध होते हैं ।

आजकल का तिब्बत प्रदेश वाला कैलाश अब विदेशी प्रतिबन्धों के कारण यात्रा की दृष्टि से दिन-दिन असुविधाजनक हो रहा है । वहाँ डाकुओं का भी भय सदा रहता है । दूरी भी बहुत है । उस प्रदेश में भारतीय वातावरण भी नहीं है, न अपनी भाषा न संस्कृति । वहाँ जाकर विदेश-सा अनुभव होता है । जिस समय भारत की संस्कृति का वहाँ विस्तार रहा था, उस समय वह तीर्थ भी उपयुक्त रहा होगा, पर शिव का वास्तविक निवास, गंगा का वास्तविक उद्गम और सच्ची आध्यात्मिक मान सरोवर का दर्शन करना हो तो हमें इस हिमालय के हृदय-धरती के स्वर्ग में वास्तविक कैलाश की खोज करनी होगी ।

'ओटोबायो आफ योगी' ग्रन्थ में ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख है, जिसमें हिमालय के सिद्ध योगियों के विलक्षण कर्तृत्वों का विवरण है । पाल ब्रिंटन और रम्पा जैसे शोध कर्त्ताओं ने इस क्षेत्र में समर्थ सिद्ध पुरुषों का अस्तित्व पाया है । दो सौ वर्ष जीवित रहने वाले स्वामी कृष्णाश्रय ने हिन्दू विश्वविद्यालय की आधार शिला रखी थी । वे नग्न अवधूत की तरह हिम प्रदेश में निवास-निर्वाह करते थे । जिन लोगों को भी ऐसे शरीरधारी और अंशधारी और अशरीरी सिद्ध पुरुषों के साक्षात्कार यहाँ होते रहते हैं, जिनके उनके साथ सम्पर्क सधे हैं, उनमें इन पंक्तियों का लेखक भी था ।

हिमालय में छोटे-बड़े जितने भी देवस्थान हैं उतने अन्यत्र मिलने कठिन हैं । अमरनाथ, ज्वालामुखी, हरिद्वार, केदारनाथ. बद्रीनाथ, गंगोत्री, पशुपतिनाथ तो प्रख्यात हैं ही । इनके समीपवर्ती क्षेत्रों में छोटे-छोटे तीर्थों की तो श्रृंखला ही बिखरी पड़ी है । ऋषिकेश से बद्रीनाथ जाने के मार्ग में ही देव प्रयाग, रुद्र प्रयाग, कर्ण प्रयाग आदि कितने ही प्रयाग तथा उत्तर काशी, गुप्त काशी, तुंगनाथ, त्रियुगी नारायण, दिव्य काशी आदि कितने ही तीर्थ मिलते हैं । शिव और शक्ति के विभिन्न नाम रूपों के देवस्थान थोड़ी-थोड़ी दूर पर गामों के समीप एवं पर्वतीय घाटियों में सर्वत्र पाये जाते हैं । सती के आत्म विसर्जन का, पार्वती की साधना का यही स्थान है । शिव ताण्डव भी

यहीं हुआ था । उस अवसर पर प्रयुक्त हुआ त्रिशूल उत्तर काशी के एक प्राचीन स्थान में स्थापित बताया जाता है । जमदग्नि और परशुराम की तप साधना उत्तरकाशी में सम्पन्न हुई थी ।

आयुर्वेद, रसायन विद्या, अस्त्र संचालन, साहित्य सृजन, योगानुसंधान जैसे महत्वपूर्ण प्रयोग हिमालय क्षेत्र की सुविस्तृत प्रयोगशाला में होते रहे हैं । सप्त ऋषियों के, महामनीषी देव मानवों के कार्यक्षेत्र इसी भूमि में रहे हैं । छात्रों के लिये गुरुकुल और श्रेयार्थियों के लिये आरण्यक यहीं थे । राजतंत्रों के सूत्र संचालक वशिष्ठ जैसे धर्माध्यक्षों के निवास इसी भूमि में थे । प्रायः सभी महत्वपूर्ण ऋषि कल्प देवात्माओं की विविध-विधि गतिविधियाँ हिमालय की सुरम्य घाटियों और कन्दराओं में सुविकसित होती रही हैं । उन प्रयोगों से लाभान्वित होकर विशाल भारत के ३३ करोड़ निवासी ३३ कोटि देवता कहलाते रहे हैं । भौतिक और आत्मिक प्रगति की उच्चस्तरीय विभूतियों से भरी-पूरी होने के कारण भारत भूमि स्वर्गादपि गरीयसी कहलाती रही है । गरीयसी न सही स्वर्ग तो वह रही है । यह अनुदान हिमालय क्षेत्र से ही अवतरित होता रहा है । जलधारा वाली भागीरथी ही नहीं देवलोक की ज्ञान गंगा का अवतरण एवं प्रवाह भी इसी क्षेत्र से आरम्भ होता रहा है ।

जो हो, यहाँ कहना इतना भर है कि प्राचीनकाल में देवताओं, ऋषियों, तत्ववेत्ताओं और तपस्वी साधकों का यह स्थान कर्मक्षेत्र रहा है । उनके सूक्ष्म संस्कार अभी भी इस क्षेत्र में अतिरिक्त रूप से पाये जाते हैं और साधना के लिये अन्यत्र की अपेक्षा यहाँ अधिक अनुकूलता रहती है ।

शान्तिकुञ्ज के लिये हरिद्वार का सप्त सरोवर स्थान बहुत ही समझ-बूझकर चुना गया था । हरिद्वार हिमालय का प्रवेश द्वार है । शिव शक्ति सती का अवसान, पार्वती का जन्म और तप यहीं सम्पन्न हुआ था । सप्तपुरी प्रसिद्ध हैं । उनमें से एक मायापुरी, हरिद्वार भी है । गंगा की सात धाराओं के पुण्य क्षेत्र के बारे में इतिहास यह है कि सप्त ऋषि यहाँ तप करते थे । गंगा अवतरित हुई तो उन्होंने ऋषि आश्रमों को बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये अपना रास्ता बना लिया और सात भागों में विभक्त होकर इस क्षेत्र से आगे चली गयीं । अभी भी धाराओं के विभाजन का दृश्य यहाँ विद्यमान है । शान्तिकुञ्ज

की भूमि जहाँ है, वहाँ अब से एक सौ वर्ष पूर्व गंगा की धारा बहती थी । भूमि को बचाने के लिये सरकारी बाँध बना, धारा का विस्तार सीमित हुआ और जिस भूमि पर शान्तिकुञ्ज बना है वह क्षेत्र कृषि योग्य बना दिया गया । प्रकारान्तर से इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि गंगावतरण के सतयुग काल से लेकर अब से सौ वर्ष पूर्व तक शान्तिकुञ्ज की भूमि पर गंगा की धारा प्रवाहित होती रही है । अब भी यहाँ के कुँओं का पानी गंगा के पानी के बढ़ने-उतरने के क्रम से ऊँचा-नीचा होता रहता है । बालू की एक हल्की-सी परत ही गंगा की मूल धारा और इस भूमि में थोड़ा-सा अन्तर प्रस्तुत करती है । जलधारा तो सर्वथा एक ही है । गंगा की बालू और गोल पत्थरों से ही यह भूमि पटी पड़ी है । मूल धारा भी मात्र दो फर्लांग की दूरी पर है और आश्रम की भूमि से उसके दर्शन भली प्रकार किये जा सकते हैं । प्रवेश दिशा को छोड़कर तीनों ओर हिमालय के दिव्य दर्शन होते हैं । थोड़ा ऊँचे चढ़कर दुर्बीन से देखा जाय तो हिमाच्छादित चोटियाँ आसानी से देखी जा सकती हैं ।

गंगा का गर्भ, हिमालय का छत्र और सप्तऋषियों का तप इन तीनों के समन्वय से यह स्थान अपने आप में श्रेष्ठ परम्पराओं से परिपूर्ण है । साधना की दृष्टि से इस क्षेत्र को परम्परागत रूप से, हर दृष्टि से जीवन्त एवं प्राणवान कहा जा सकता है । अपने प्रयत्न से भी यहाँ के वातावरण में कुछ और प्रखरता लाने का प्रयत्न किया गया है । पचास वर्ष से निरन्तर जलती आ रही अखण्ड ज्योति की घृत दीप शिखा यहीं प्रतिष्ठापित है । गायत्री मन्दिर के निकट चलते रहने वाले जप, अनुष्ठानों का क्रम अनवरत है। नित्य गायत्री यज्ञ भी सुसंचालित है । यह तीनों ही कार्य इस वातावरण में दिव्यता की सूक्ष्म चेतना का संचार करते हैं । हम भी अपना कुछ न कुछ अपना तप साधना का क्रम चलाकर आश्रम के वातावरण में ऐसी विशेषता उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे यहाँ के रहने वालों में अनायास ही प्रखरता उत्पन्न हो सके ।

आत्मिक प्रगति के लिये उपयुक्त वातावरण गंगा की गोद और हिमालय की छाया ही माना जाता है । साधना के इतिहास पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि ऋषियों और साधकों का

समुदाय इसी क्षेत्र में रहकर उपयुक्त प्राण चेतना उपलब्ध करने में सफल हुआ है । ऋषियों का जन्म तो विभिन्न क्षेत्रों में हुआ है, पर वे उपयुक्त वातावरण, मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त करने की दृष्टि से घर छोड़कर यहीं आ बसे । इससे उन्हें आरम्भिक असुविधा तो हर परिवर्तन के होने पर होने जैसी हुई होगी, किन्तु जब उन्होंने इस परिवर्तन का लाभ देखा, तो कई असुविधायें रहते हुए भी वे यहाँ जम गये और यही रम गये । उनके मन में लौटने का विचार तक नहीं आया । यही कारण है कि हिमालय एवं गंगा के तट वाला भाग अनादिकाल से ऋषि भूमि रहा है। परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी वातावरण में वह ऊर्जा अभी भी किसी सीमा तक बनी हुई है ।

सात ऋषियों की इस साधना भूमि में ही गायत्री नगर बसाया गया है । उसे सच्चे अर्थों में जीवन्त तीर्थ कहा जा सकता है । प्राचीन काल के आरण्यकों में जो विशेषतायें पायी जाती थीं, प्रायः उन सभी का समावेश गायत्री नगर की ब्रह्मवर्चस् प्रक्रिया के अन्तर्गत करने का प्रयत्न किया गया है। स्थूल दृष्टि से यह क्षेत्र दूसरे भूखण्डों की तरह ही धूलि, मिट्टी, पेड़ पानी जैसी पदार्थ सम्पदा से बना भर दीखता है, पर जिन्हें सूक्ष्म दृष्टि उपलब्ध है, उन्हें उस परोक्ष की झाँकी करने में कठिनाई नहीं होती कि साधना को सफल बनाने वाले आधार यहाँ अन्यत्र की अपेक्षा कहीं अधिक उपलब्ध हैं ।

गायत्री नगर की ब्रह्मवर्चस् प्रक्रिया ने, उच्चस्तरीय गायत्री उपासना के लिये, इस क्षेत्र को सच्चे अर्थों में साधनात्मक बना दिया है । उसमें साधना की सफलता के सभी आवश्यक तत्त्व विद्यमान हैं। परम्परा और प्रक्रिया का समन्वय रहने से ही वह प्राण प्रवाह उत्पन्न होता है, जिसको जीवन्त और जागृत कहा जा सके। ऐतिहासिक विशिष्टता का परिचय देने वाले तीर्थ तो अन्यत्र भी कितने ही हैं, पर जिनमें आरण्यकों की प्राणवान् ऊर्जा का लाभ प्रचुर परिमाण में मिल सके ऐसे आश्रम इन दिनों अन्यत्र मिलना कठिन है ।

आत्मिक प्रगति का मूल आधार– 'श्रद्धा' अर्थात श्रेष्ठता से प्यार

एक ही मन्त्र, एक ही साधना पद्धति और एक ही गुरु के मार्गदर्शन का अवलम्बन लेने पर भी विभिन्न साधकों की आत्मिक प्रगति अलग–अलग गति से होती है । कोई तेजी से आत्मिक विकास की सीढ़ियाँ चढ़ने लगता है, तो कोई मंथरगति से आगे बढ़ता है । इसका क्या कारण है ? मनीषियों ने इसका उत्तर एक ही वाक्य में देते हुए कहा है कि 'अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा की शक्ति ही सर्वोपरि है । जिस प्रकार शक्ति के आधार पर भौतिक हलचलें और गतिविधियाँ सम्पन्न होतीं तथा अभीष्ट उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं, उसी प्रकार आत्मिक क्षेत्र में श्रद्धा ही अपनी सघनता या विरलता के आधार पर चमत्कार प्रस्तुत करती है । श्रद्धा विहीन उपचार सर्वथा निष्प्राण रहते हैं और उनमें किया गया श्रम भी प्रायः निरर्थक चला जाता है । श्रद्धा का महत्व बताते हुए गीताकार ने कहा है–

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव सः ।

(गीता १७।३)

अर्थात्–यह पुरुष श्रद्धामय है । जो जिस श्रद्धा वाला है अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा है स्वयं भी वही अर्थात् उस श्रद्धा के अनुरूप ही है ।

यह श्रद्धा ही है, जो निर्जीव पाषाण प्रतिमाओं में भी प्राण भर देती है और उन्हें अलौकिक चमत्कारी क्षमता से सम्पन्न बना देती है । मीरा ने कृष्ण प्रतिमा को अपनी श्रद्धा के बल पर ही इतना सजीव बना लिया था कि वह प्रत्यक्ष कृष्ण से भी अधिक प्राणवान प्रतीत होने लगी थी । श्रद्धा–विश्वास के सम्बन्ध में रामायण में भी एक सुन्दर प्रसंग आता है । सेतुबन्ध के अवसर पर रीछ–वानरों ने राम के प्रति अपने विश्वास का आधार लेकर ही समुद्र में पत्थर तैरा

दिये थे, किन्तु स्वयं राम ने अपने हाथों से जो पत्थर फैंके वे नहीं तैर सके। इसी प्रसंग को लेकर शास्त्रकारों ने कहा है–'राम से बड़ा राम का नाम' पर नाम में कोई शक्ति नहीं है। शक्ति है उस श्रद्धा में, जो अलौकिक सामर्थ्य उत्पन्न करती है, साधारण स्तर के व्यक्तियों को भी असंप्रज्ञात समाधि की सिद्धि श्रद्धा के आधार पर उपलब्ध होने का प्रतिपादन करते हुए महर्षि पातंजलि ने कहा है–

श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

(योग दर्शन १।२०)

अर्थात्–श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक सामान्य योगियों की जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं है, असंप्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

अध्यात्म क्षेत्र में श्रद्धा की शक्ति ही सर्वोपरि है। इस प्रकार शक्ति के आधार पर भौतिक हलचलें गतिशील होती हैं और उनके सहारे अभीष्ट उपलब्धियाँ हस्तगत होती हैं। उसी प्रकार आत्मिक क्षेत्र में 'श्रद्धा' ही मूल है। उसी की सघनता चमत्कार दिखाती है। श्रद्धा विहीन उपचार सर्वथा निष्प्राण रहते हैं और उनमें किया गया श्रम प्रायः निरर्थक चला जाता है। सामान्य लोक व्यवहार में भी दृढ़ता, श्रद्धा विश्वास के आधार पर ही आती है। आत्म विश्वास के बल पर ही कोई बड़े कदम उठा सकना सम्भव होता है। शौर्य और साहस आत्मविश्वास ही काम करता है। परिवार में एक–दूसरे को स्वजन, घनिष्ठ एवं आत्मीय होने की मान्यता ही उन्हें पारस्परिक स्नेह सहयोग के सुदृढ़ सूत्र में बाँधे रहती है। यह मात्र श्रद्धा ही है, जिसके आधार पर परिवारों में स्नेह–दुलार का अमृत बरसता है और एक–दूसरे के लिये बढ़े–चढ़े त्याग करने को तत्पर रहता है। श्रद्धा की कड़ी टूट जाय, तो फिर परिवारों का विघटन सुनिश्चित है, वे तनिक–सी बातों पर अन्तःकलह के अखाड़े बनेंगे और देखते–देखते बिखर कर अस्त–व्यस्त हो जायेंगे।

कृषि, उद्योग, शिल्प, खेल आदि सब में अपने कार्य–क्रम के सही होने का विश्वास रखकर ही चला जाता है। व्यवसायी एक–दूसरे पर विश्वास करके लेन–देन करते हैं। बैंकें बड़े–बड़े जोखिम उठाती हैं। उधार का आधार ही विश्वास है। कर्मचारियों के हाथ में व्यवसाय की लगाम रहती है, रसोइया भी विष देकर आसानी से सारे घर को मृत्यु

की गोद सुला सकता है । पत्नी सारी सम्पत्ति लेकर गायब हो सकती है । यह आशंकायें रहते हुए भी मनुष्य को विश्वास का ही सहारा लेना पड़ता है । अविश्वासी के लिये कोई कारोबार करना तो दूर आशंका ग्रस्त जीवन की भयंकरता का बोझ सँभालना भी कठिन हो जायेगा और वह चैन से जीवित तक नहीं रह सकेगा । ऐसी स्थिति में कोई किसी पर अपने गुप्त भेद तक प्रकट न कर सकेगा और दुरावपूर्ण मनःस्थिति की घुटन में घुटता हुआ उद्विग्न विक्षिप्त स्तरकी जिन्दगी जियेगा ।

श्रद्धा और विश्वास के बिना भौतिक जीवन में भी गति नहीं, फिर अध्यात्म क्षेत्र का तो उसे प्राण ही कहा गया है । आदर्शवादिता में प्रत्यक्षतः हानि ही रहती है, पर उच्चस्तरीय मान्यताओं में श्रद्धा रखने के कारण ही मनुष्य त्याग–बलिदान का कष्ट सहन करने के लिये खुशी–खुशी तैयार होता है । ईश्वर और आत्मा का अस्तित्व तक प्रयोगशालाओं की कसौटी पर खरा सिद्ध नहीं होता । वह निश्चित रूप से श्रद्धा पर ही अवलम्बित है । मनुष्य का व्यक्तित्व जिसमें संस्कारों का, आदतों का गहरा पुट रहता है, वस्तुतः श्रद्धा की परिपक्वता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में भिन्न–भिन्न प्रकार की आदतें और मान्यतायें अत्यन्त गहराई तक घुसी रहती हैं और वे उन्हें छोड़ने को सहज ही तैयार नहीं होते । यह संस्कार और कुछ नहीं चिरकाल तक सोचे गये, माने गये और व्यवहार में लाये गये अभ्यासों का ही परिपाक है । तथ्यों की कसौटी पर इन संस्कारों में से अधिकांश बेतुके और अन्धविश्वास स्तर के होते हैं, पर मनुष्य उन्हें इतनी मजबूती से पकड़े होता है कि उसके लिये वे ही 'सत्य' बन जाते हैं और सत्य और तथ्य कह कर वह उन पूर्वाग्रहों के प्रति अपनी कट्टरता का परिचय देता है । उनके लिये लड़ने–मरने तक को तैयार हो जाता है । यह मान्यता परक कट्टरता और कुछ नहीं मात्र श्रद्धा द्वारा रची गयी खिलवाड़ मात्र है ।

तर्क की शक्ति का जन्म भी श्रद्धा के गर्भ से ही होता है । यों तो तर्क विचारणा को जन्म देता है और श्रद्धा–विश्वास को, पर विचारणा भी विचार के लिये आधार ढूढ़ती है । आधार तभी बन सकता है, जब विश्वास हो । अन्यथा तर्क बुद्धि तो किसी भी केन्द्र पर चिन्तन को केन्द्रीभूत नहीं कर सकती । यह तो तभी बन पाता है,

जब विश्वास के सहारे विषय पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है । दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि श्रद्धा के अभाव में विचारणा, तर्क का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं । किसी विषय पर आस्था ही तर्कों का सृजन करती, उस पर सोचने, सत्यता को खोज निकालने को प्रेरित करती है । श्रद्धा मानवी व्यक्तित्व के मूल में घुली-मिली है, जिसके बिना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता । आगे बढ़ने, प्रगति करने की बात तो दूर रही । यह बात अलग है कि हम उसका अनुभव न कर सकें ।

सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि सम्पूर्ण जीवन प्रवाह एवं उसकी उपलब्धियाँ वस्तुतः श्रद्धा की ही परिणति हैं । माँ अपना अभिन्न अंग मानकर नौ माह तक अपने गर्भ में बच्चे का सेचन करती है । अपने रक्त मांस को काटकर शिशु को पोषण प्रदान करती है । श्रद्धा का यह उत्कृष्ट स्वरूप है जिसका बीजारोपण माँ बच्चे में संस्कार के रूप में करती है । निस्वार्थ भाव से उसको संरक्षण देती है । अनावश्यक भार कष्टों का जंजाल समझने का कुतर्क उठे तो नवशिशु का प्रादुर्भाव ही सम्भव न हो सकेगा ।

यह श्रद्धा ही है जिसके कारण बच्चा माँ के सीने से चिपकने, स्नेह-दुलार पाने के लिये लालायित रहता, रोता-कलपता है । मूक-भाषा, वाणी से रहित नवशिशु की श्रद्धा एक मात्र माँ के ऊपर ही होती है । माता-पिता भी निश्छल हृदय से बच्चे के विकास के लिये हर सम्भव प्रयास करते हैं । खाने-पीने, स्वास्थ्य संरक्षण से लेकर शिक्षा-दीक्षा के झंझट भरे सरंजाम जुटाते हैं । समग्र विकास ही उनका एक मात्र लक्ष्य होता है । तर्क तो हर बात को उपयोगिता की कसौटी पर कसता है । इस आधार पर कसने पर माता-पिता को हर दृष्टि से घाटा ही घाटा दिखायी पड़ेगा । बात तर्क की मान ली जाय, तो बच्चे का अस्तित्व ही शंका में पड़ जायेगा । दृष्टिमात्र उपयोगितावादी हो जाय तथा यह परम्परा प्रत्येक क्षेत्र में चल पड़े, तो परिवार एवं समाज विश्रृंखलित हो जायेगा । सभ्यता को अधिक दिनों तक जीवित नहीं रखा जा सकेगा ।

श्रद्धा ही पारिवारिक जीवन को स्नेह-सूत्र में बाँधे रहती है । सहयोग करने, अन्य सदस्यों के लिये अपने स्वार्थों का उत्सर्ग करने की

प्रेरणा देती है । पारिवारिक विघटनों में इसका अभाव ही कारण बनता है । पति-पत्नी के बीच मन-मुटाव, सदस्यों के बीच टकराहट का कारण अश्रद्धा है । तर्क एवं उपयोगिता की कसौटी पर कसने पर तो वृद्ध माता-पिता का महत्व भी समझ में नहीं आता । वे भार के रूप में ही दिखायी पड़ते हैं । किन्तु श्रद्धा दृष्टि जानती है कि उनका कितना ऋण चढ़ा है । उनके स्नेहाशीर्वाद को पाने की कामना आजीवन बनी रहती है । यह भाव दृष्टि तो श्रद्धा की ही उपलब्धि है, जो सदा एक युवक को माता-पिता के समक्ष नत-मस्तक किये रहती है ।

मनुष्य के व्यक्तित्व की ढलाई श्रद्धा की भट्टी के सान्निध्य में होती है । इस श्रद्धा तत्व की गरिमा को यदि स्वीकार किया जा सके, तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसे विकसित, परिष्कृत एवं परिपक्व करने के लिये आस्तिकता की मान्यता का अवलम्बन लेना आवश्यक है । ईश्वर के अस्तित्व की आस्था और उसके साथ तादात्म्य बिठाने के प्रयास में इतना लाभ प्रत्यक्ष मिलता है कि मनुष्य की आदर्शवादी निष्ठायें परिपक्व होती हैं और उसके सहारे व्यक्ति ऐसा आदर्शवादी बनता है, जिसमें 'आत्मा' के अस्तित्व का परिचय भीतरी और बाहरी दोनों क्षेत्रों से प्राप्त किया जा सके ।

श्रद्धा को मानवता का बीज कह सकते हैं । वही उगता, बढ़ता और परिपुष्ट होता है, तो जीवन वृक्ष को स्वर्गस्थ कल्प-वृक्ष के समतुल्य बना देता है । चेतना का वर्चस्व उसी से निखरता है । नर-वानर का मानव, महामानव, अतिमानव की दिशा में बढ़ चलने का साहस एवं बल श्रद्धा के सहारे ही सम्भव होता है । श्रद्धा और आस्तिकता का एक-दूसरे के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । ईश्वर का अनुग्रह श्रद्धा के रूप में ही मिलता है और जैसे ही इस तत्व की जितनी उपलब्धि हो जाती है, उसके जीवन को वन्दनीय बनने की सम्भावना उसी अनुपात से परिपुष्ट होती चली जाती है । इस स्थिति को ऋद्धियों और सिद्धियों की जननी कहा जा सकता है । आस्तिकता का यह परोक्ष प्रतिफल है, जिसमें संदेह की कोई गुन्जायश नहीं है । पूजा का प्रत्यक्ष प्रतिफल मिलने में सन्देह होने पर भी इस श्रद्धा के वरदान को असाधारण वरदान की ही संज्ञा दी जा सकती है ।

जीवन को किसी निर्दिष्ट ढाँचे में ढाल देने वाली, सबसे प्रबल

एवं उच्चस्तरीय शक्ति श्रद्धा है। यह अन्तःकरण की दिव्य भूमि में उत्पन्न होकर समस्त जीवन को हरियाली से सजा देती है। श्रद्धा का अर्थ है–श्रेष्ठता के प्रति अटूट आस्था। यह आस्था जब सिद्धान्त एवं व्यवहार में उतरती है, तो उसे निष्ठा कहते हैं। यही जब आत्मा के स्वरूप, जीवन दर्शन एवं ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश करती है, तो श्रद्धा कहलाती है।

आस्थायें प्रेरणा भरती हैं, गति देती हैं, बढ़ने के लिये गति और सोचने के लिये प्रकाश प्रस्तुत करती हैं। उत्कृष्टता की दिशा में बढ़ सकना आस्थाओं की उपस्थिति के बिना हो ही नहीं सकता। निष्ठा से संकल्प उठता है और संकल्प से साहस और पराक्रम उभर कर आता है। तन्मयता और तत्परता इसी अन्तःस्थिति में किसी प्रयास से नियोजित होती है और मन एवं कर्म का ऐसा स्तर बन पड़ने पर ही महत्वपूर्ण प्रगति सम्भव होती है। सोचने से पता चलता है कि बुद्धि की अपनी उपयोगिता होते हुए भी श्रद्धा की शक्ति असीम है। इसलिये श्रद्धा को ही जीवन कहा गया है। व्यक्तित्व और कुछ नहीं–श्रद्धा का प्रतिबिम्ब परिचय भर है।

आत्म–कल्याण चाहने वाले और ईश्वर प्राप्ति के विभिन्न प्रयासों के लिये इस शक्ति का उभार एवं अवलम्बन आवश्यक है। इसके बिना उस महान लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अपनी अन्तरात्मा में बैठे हुए परमात्मा को देखने, उसे प्राप्त करने का उपाय बताते हुए मनीषियों ने इसी श्रद्धा की गरिमा को प्रस्तुत किया है। रामचरितमानस में श्रद्धा को भवानी और विश्वास को शंकर बताया गया है। इन्हीं दोनों की सहायता से भगवान को प्राप्त किया जा सकता है।

मनुष्य स्थूल कम सूक्ष्म अधिक है। वह भावनाओं के सहारे पैदा होता, भावनाओं में ही जीवित रहता और भाव जगत में ही विलीन होता है। भावनाओं के प्रति सम्मान ही श्रद्धा है। यह संवेदना जहाँ भी होगी, वहीं संतोष की निर्झरिणी प्रवाहित हो रही होगी। भगवान् कृष्ण ने कहा है–

सत्वानूरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धा मनोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद स एव सः॥

(गीता–१७।३)

अर्थात्–हे अर्जुन ! यह सृष्टि श्रद्धा से विनिर्मित है, जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह पुरुष वैसा ही बन जाता है अर्थात् बुराइयों के प्रति श्रद्धा व्यक्ति को समस्याओं में कैद कर देती है, तो आदर्शों के प्रति आस्था मनुष्य जीवन को सुख–शान्ति और प्रसन्नता से भर देती है ।

अन्तःकरण की उत्कृष्टता को श्रद्धा के नाम से जाना जाता है, उसका व्यावहारिक स्वरूप है–भक्ति । यों साधारण बोलचाल में दोनों का उपयोग पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है। फिर भी कुछ अन्तर तो है ही । श्रद्धा अन्तरात्मा की आस्था है । श्रेष्ठता के प्रति असीम प्यार के रूप में उसकी व्याख्या की जा सकती है । भक्ति उसका व्यावहारिक रूप है । करुणा, उदारता, सेवा, आत्मीयता के आधार पर चलने वाली विभिन्न गतिविधियों को भक्ति कहा जा सकता है । देश भक्ति, आदर्श भक्ति, ईश्वर भक्ति आदि के रूपों में त्याग–बलिदान के, तप–साधना के, अनुकरणीय आदर्शवादिता के अनेकों उदाहरण इसी भक्ति भावना की प्रेरणा से बन पड़ते हैं ।

आस्थायें–आकांक्षायें जब परिपक्व स्थिति में पहुँचती हैं और निश्चयपूर्वक लक्ष्य की ओर बढ़ती है, तो उन्हें संकल्प कहते हैं । संकल्प की प्रचण्ड शक्ति सर्वविदित है । संकल्पों के धनी व्यक्तियों ने ही सामान्य साधनों और सामान्य अवसरों में भी चमत्कारी सफलतायें उपलब्ध की हैं । संकल्प की प्रखरता मस्तिष्क और शरीर दोनों को अभीष्ट दिशा में घसीट ले जाती है और असंख्य अवरोधों से टकराती हुई उस लक्ष्य तक पहुँचाती है, जिसे आरम्भ में असम्भव तक समझा जाता था । पुरुषार्थियों की यशगाथा से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं । वस्तुतः उन्हें संकल्प शक्ति का चमत्कार ही कह सकते हैं । यहाँ इतना ही समझने की आवश्यकता है कि संकल्प उभर कर आने से पूर्व विश्वास बनकर मनःक्षेत्र में अपनी जड़ें जमाता है या उस बीज का प्रत्यक्ष पौधा संकल्प रूप में प्रकट होता है । विश्वास की प्रतिक्रिया ही संकल्प है । यही कारण है कि अन्तःकरण की उच्चस्तरीय आस्थाओं को श्रद्धा–विश्वास का रूप दिया गया है । वे उत्कृष्ट स्तर की होने पर शिव–पार्वती का युग्म बनते हैं और निकृष्ट होने पर आसुरी क्रूर कर्मों में इस प्रकार निरत दीख पड़ते हैं, जैसा कि उपाख्यानों में दानवों एवं शैतान का चित्रण किया जाता है ।

जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है, क्रिया, विचारणा और भावना यही चेतना की तीन शक्तियाँ हैं । श्रेष्ठता की दिशा में जब वे बढ़ती हैं, तो सत्कर्म, सद्ज्ञान एवं सद्भाव के रूप में उन्हें काम करते देखते हैं । इन्हें सुविकसित करने के विज्ञान को अध्यात्म कहते हैं। ब्रह्म-विद्या का विशालकाय ढाँचा इसी के निमित्त खड़ा किया गया है। चेतना को श्रेष्ठता के साथ जोड़ देने के प्रयास को ही योग कहते हैं । योग साधना की तीन ही प्रमुख धारायें हैं-कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति योग । इन्हीं के सहारे जीवन लक्ष्य प्राप्त होने की स्थिति बनती है । इसी त्रिवेणी में स्नान करने से परम पद की प्राप्ति का लाभ मिलता है ।

उपरोक्त विवेचना के सहारे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव जीवन में सबसे बड़ी, सबसे ऊँची, सबसे समर्थ शक्ति 'श्रद्धा' की ही है । मनःस्थिति को ही परिस्थितियों की सृजन कर्त्ता कहा गया है। शरीर को जन्म तो माता-पिता के प्रयत्न से मिलता है, पर आत्मा को उत्कृष्टता, श्रद्धा और विश्वास रूपी दिव्य जननी और जनक की अनुकम्पा का फल माना जा सकता है । विधाता द्वारा भाग्य लिखे जाने के अलंकार में तथ्य इतना है कि अपना अन्तःकरण अपने स्तर के अनुरूप मनुष्य की प्रगति, अवगति आदि का ताना-बाना बुनता है । अदृश्य कृपा-दैवी अनुग्रह आदि का तात्विक अर्थ समझना हो तो उन्हें अन्तःकरण से ही वरदान, अभिशाप कह सकते हैं । लोक व्यवहार में कहा जाता है कि 'मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।' गीता कहती है-"आत्मैवह्यात्मन् बन्धु-आत्मैव रिपुरात्मनः" अर्थात् मनुष्य स्वतः ही अपना मित्र और शत्रु है । उत्थान और पतन की कुंजी पूरी तरह उसके अपने हाथ में है और वह सुरक्षित एवं सुनिश्चित रूप से अन्तःकरण में रखी रहती है । इसी चाबी को शास्त्रकारों ने आस्था, निष्ठा, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास, संकल्प आदि के नामों से पुकारा है । भावनाओं और आकांक्षाओं के रूप में भी इसी तथ्य की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की गयी है ।

उल्लसित वर्तमान और उज्ज्वल भविष्य का निर्धारण पूर्णतया सत् श्रद्धा के हाथ में है । उसी का महत्व, मर्म, उपार्जन, अभिवर्धन सिखाने के लिये भूतकाल की कथा-गाथाओं को पुरातन उपाख्यानों में

पुराण के नाम से जाना और जनाया जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान की सुखद सम्भावनाओं का निर्माण अन्तःकरण के जिस क्षेत्र में विनिर्मित होता है, उसका स्वरूप समझना हो तो एक 'श्रद्धा' शब्द का उपयोग करने से वह प्रयोजन पूरा हो सकता है।

बीज ही वृक्ष बनता है और श्रद्धा ही व्यक्तित्व का रूप धारण करती है, मनुष्य जो कुछ बनता है, जो कुछ पाता है वह समूचा निर्माण 'श्रद्धा' शक्ति के चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि इस ब्रह्म विज्ञान के, आत्म विज्ञान के गूढ़ रहस्य को समझा जा सके, तो प्रतीत होगा कि तत्वदर्शियों के वेदान्त प्रतिपादन सनातन सत्य को अयमात्मा ब्रह्म–प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्वमसि, सोहम्, शिवोहम्, सच्चिदानन्दोहम् आदि सूत्र में घोषित किया है। पतन से बचने और उत्थान अपनाने का सुनिश्चित उपाय बताते हुए शास्त्रकार इस उत्तरदायित्व को मनुष्य के अपने कन्धे पर ही लाद देते हैं। वे कहते हैं–"उद्धरेत् आत्मनात्मानं–नात्मन अवसादयेत्" अर्थात् अपना उद्धार आप करो। अपने को गिराओ मत। उसका सुनिश्चित मत है कि उत्थान–पतन की मुहिम हर मनुष्य स्वतः ही संभालता है। परिस्थितियाँ तो उसका अनुगमन भर करती हैं। दिशा निर्धारण और प्रगति प्रयास अपना होता है–साधन और सहयोग तो उसी चुम्बकत्व के सहारे खिंचते भर चले आते हैं। उत्थान या पतन में से जो भी अपना गन्तव्य हो–व्यक्तित्वों, साधनों एवं परिस्थितियों का सरंजाम भी उसी स्तर का जुटाता चला जाता है। श्रद्धा की इसी गरिमा को देखते हुए अध्यात्म शास्त्र ने मानवी सत्ता में विद्यमान साक्षात् ईश्वरीय शक्ति के रूप में अभिनन्दन किया है।

श्रद्धा वह प्रकाश है, जो आत्मा की, सत्य की प्रगति के लिये बनाये गये मार्ग को दिखाता है। जब भी मनुष्य एक क्षण के लिये लौकिक चमक–दमक, कामिनी और कंचन के लिये मोहग्रस्त होता है, तो माता की तरह ठण्डे जल से मुँह धोकर जगा देने वाली शक्ति यह श्रद्धा ही होती है। सत्य के सद्गुण, ऐश्वर्यस्वरूप एवं ज्ञान की थाह अपनी बुद्धि से नहीं मिलती उसके प्रति सविनय प्रेम भावना विकसित होती है, उसी को श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा सत्य की सीमा तक साधक को साधे रहती है, सँभाले रहती है।

श्रद्धा के बल पर ही मलिन चित्त अशुद्ध चिन्तन का परित्याग करके बार-बार परमात्मा के चिन्तन में लगा रहता है। बुद्धि भी जड़ पदार्थों में तन्मय न रहकर परमात्म ज्ञान में अधिक से अधिक सूक्ष्मदर्शी होकर दिव्य भाव में बदल जाती है । स्वयं का ज्ञान और तार्किक शक्ति इतनी बलवान नहीं होती कि मनुष्य निरन्तर उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक के यथार्थ और दूरवर्ती परिणामों को आत्मा के अनुकूल होने का विश्वास दे सके। तर्क प्रायः व्यर्थ से दिखाई देते हैं। ऐसे समय जब अपने कर्मों के औचित्य या अनौचित्य को परम प्रेरक शक्ति के हाथों सौंप देते हैं, तो एक प्रकार की निश्चिन्तता मन में आ जाती है। मन का बोझ हल्का हो जाता है। जिसकी जीवन पतवार परमात्मा के हाथ में हो, उसे किसका भय ? सर्वशक्तिमान से सम्बन्ध स्थापित करते ही मनुष्य निर्भय हो जाता है। उसके स्पर्श से ही मनुष्य में अजेय बल आ जाता है। व्यक्तित्व में सद्गुणों का प्रकाश और दिव्यता झरने लगती है । जीवन में आनन्द झलकने लगता है । यह सम्बन्ध और स्पर्श जब तक सत्य की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती, तब तक श्रद्धा के रूप में प्रकट होता और विकसित होता है । वह एक प्रकार से पाथेय है इसलिये उसका मूल्य और महत्व उतना ही है जितना अपने लक्ष्य का, गन्तव्य का, अभीष्ट का, आत्मा, सत्य अथवा परमात्मा की प्राप्ति का ।

परमात्मा के प्रति अत्यन्त उदारतापूर्वक आत्म भावना पैदा होती है वही श्रद्धा है। सात्विक श्रद्धा की पूर्णता में अन्तःकरण स्वतः पवित्र हो उठता है। श्रद्धायुक्त जीवन की विशेषता से ही मनुष्य स्वभाव में ऐसी सुन्दरता बढ़ती जाती है, जिसको देखकर श्रद्धावान् स्वयं सन्तुष्ट बना रहता है । श्रद्धा सरल हृदय की ऐसी प्रीतियुक्त भावना है जो श्रेय पथ की सिद्धि कराती है इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं-

भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धा-विश्वास रूपिणौ ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्ध स्वान्तस्थमीश्वरम् ॥

(रामायण, बाल काण्ड)

"हम सर्वप्रथम भवानी और भगवान्, प्रकृति और परमात्मा को श्रद्धा और विश्वास के रूप में वन्दन करते हैं, जिसके बिना सिद्धि और ईश्वर-दर्शन की आकांक्षा पूर्ण नहीं होती ।"

श्रद्धा का आविर्भाव सरलता और पवित्रता के संयोग से होता है । पार्थिव वस्तुओं से ऊपर उठने के लिये सरलता और पवित्रता इन्हीं दो गुणों की अत्यन्त आवश्यकता होती है । इच्छा में सरलता और प्रेम में पवित्रता का विकास जितना अधिक होगा उतना ही अधिक श्रद्धा बलवान होगी । सरलता के द्वारा परमात्मा की भावानुभूति होती है और पवित्र प्रेम के माध्यम से उसकी रसानुभूति । श्रद्धा दोनों का ही सम्मिलित स्वरूप है । उसमें भावना भी है रस भी । जहाँ उसका उदय हो वहाँ लक्ष्य प्राप्ति की कठिनाई का अधिकांश समाधान तुरन्त हो जाता है ।

अज्ञान अन्धकार में भटकते हुए लोक-जीवन को सत्य मार्ग पर अग्रसर करने का माध्यम उनके द्वारा जगाई हुई श्रद्धा ही होती रही है । शिष्यों को श्रद्धा पूर्ण पाठ साधना की स्थिरता के लिये तब भी आवश्यक था, युग और परिस्थितियाँ बदल जाने पर आज भी आवश्यक है । परमात्मा सत्य है, उसके गुण और स्वभाव अपरिवर्तनशील हैं इसी तरह वहाँ तक पहुँचने का मार्ग और माध्यम भी अपरिवर्तित ही है । उसे आज भी पाया और अनुभव किया जा सकता है, पर उस स्थिति की परिपक्वता के बीच में जो साधनायें, परिवर्तन, हलचल, कठिनाइयाँ और दुरभिसंधियाँ आती हैं, उनमें लक्ष्य प्राप्ति की भावना की स्थिरता के लिये श्रद्धा आवश्यक है ।

यहाँ श्रद्धा की शक्ति का संक्षिप्त-सा आभास दिया गया है कि उसे मानव जीवन की सर्वोपरि सामर्थ्य के रूप में समझ सकने में सुविधा हो । देव लोक यही है । देवता इसी क्षेत्र में जन्मते, बढ़ते परिपुष्ट होते और वरदान दे सकने के लिये सक्षम बनते हैं । उनका उदय एवं अस्त भी इसी श्रद्धा के अनन्त अन्तरिक्ष में होता रहता है । मन्त्र, देवता, गुरु, उपासना, साधन सिद्धि आदि का सारा आधार श्रद्धा की आधार शिला पर खड़ा है । सच तो यह है कि साधना का विशालकाय कलेवर इसलिये खड़ा किया गया है कि उन लौह श्रृंखलाओं में जकड़ कर श्रद्धा विश्वास रूपी महादैत्य को उपयोगी प्रयोजन उत्पन्न कर सकने के लिये प्रशिक्षित किया जा सके । श्रद्धा से व्यक्तित्व का निर्धारण होता है । श्रद्धा से अनेक क्रियाकलापों का सूत्र-संचालन और उन्हें सफलता के उच्चस्तर तक पहुँचा सकना सम्भव होता है । आत्मा का सबसे विश्वस्त और सबसे घनिष्ठ

सचिव श्रद्धा ही है। उसी के सहारे आत्मिक प्रगति से लेकर सिद्धि चमत्कार के वरदान पाने और आत्म साक्षात्कार से लेकर ईश्वर दर्शन तक के समस्त दिव्य उपहार प्राप्त होते हैं ।

आत्मिक प्रगति का सर्वोपरि आधार 'श्रद्धा' को समझा जा सकता है । साधकों की सफलता–असफलता इसी पर निर्भर रहती है । अस्तु गुरुदीक्षा, शक्तिपात से लेकर अनेकों चित्र–विचित्र कष्टसाध्य तप साधना इसी प्रयोजन के लिये करायी जाती हैं कि साधक की श्रद्धा अधिकाधिक परिपुष्ट हो सके और अभीष्ट सत्परिणाम प्राप्त कर सकने का अधिकारी बन सके ।

श्रद्धा की स्थापना और परिपुष्ट होने का चिरस्थायी और सर्वमान्य आधार यह है कि जिस तथ्य पर विश्वास जमाया जाना आवश्यक है, उसकी यथार्थता और वैज्ञानिकता को सघन तथ्यों और तर्कों के आधार पर समझ सकने का अवसर दिया जाय । बुद्धि का सर्वतोमुखी समाधान हो सके तो श्रद्धा की स्थिरता सुनिश्चित मानी जा सकती है और उससे अभीष्ट परिणामों की अधिकाधिक अपेक्षा रखी जा सकती है । जिस–तिस से सुनकर जल्दी–जल्दी कुछ सुन–समझकर यदि कोई श्रद्धा बनेगी, तो उसकी जड़ें उथली बनने के कारण तनिक से आघात से उखड़ जाने की आशंका बनी रहेगी । प्रायः होता भी ऐसा ही रहता है। अमुक व्यक्ति के कहने से आवेश उमड़ा और तत्काल वह साधना आरम्भ कर दी । कुछ ही समय बाद किसी दूसरे ने उस विधान के दोष बता दिये और किसी नये प्रयोग के माहात्म्य सुना दिये, बस इतने भर से मन शंकाशंकित हो गया और पिछला प्रयोग छोड़ कर नया मार्ग अपना लिया गया । इस परिवर्तन के बीच यह नयी आशंका बनी रहती है कि पिछला साधना जिस प्रकार छोड़नी पड़ी थी उसी प्रकार यह भी न छोड़नी पड़े और उसमें भी कोई दोष वैसा ही न घुसा हो जैसा कि पहली वाली में निकल पड़ा था। कभी कोई चर्चा इस नयी साधना के विपक्ष और किसी अन्य के पक्ष में सुनाई पड़ती है, तो उसे भी छोड़ने का असमंजस खड़ा हो जाता है । संदिग्ध, शंका–शंकित मन लेकर सांसारिक प्रयोजन तक में कोई कहने लायक सफलता नहीं मिल सकती फिर अध्यात्म क्षेत्र तो पूरी तरह श्रद्धा की शक्ति पर ही आधारित और अवलम्बित है । यदि

मूल तथ्य का अभाव रहा तो फिर ज्यों–त्यों करके कर्मकाण्डों की लकीर पीटते रहने से बात बनेगी नहीं । तब असफलताओं का कारण विधि–विधानों की हेराफेरी में ढूँढ़ा जाने लगेगा और यह खोज की जाने लगेगी कि किसी क्रिया–कृत्य में कोई अन्तर तो नहीं रह गया जिससे असफलता मिली या उल्टा परिणाम निकला ।

वस्तुतः विधि–विधानों का महत्व साधना विज्ञान में एक चौपाई और श्रद्धा विश्वास का तीन चौथाई है । सघन श्रद्धा के रहते अटपटे विधि–विधान भी चमत्कारी परिणाम उपस्थित कर सकते हैं । जबकि अविश्वासी संदिग्ध मनःस्थिति में पण्डिताऊ ढंग से किये गये परिपूर्ण कर्मकाण्ड भी निष्प्राण होकर रह जाते हैं और उनका परिणाम निराशाजनक ही रहता है । अस्तु साधना क्षेत्र में प्रवेश करने वाले प्रत्येक साधक में श्रद्धा तत्व की परिपक्वता का आधार खड़ा करना आवश्यक समझा जाना चाहिये ।

श्रद्धा का सहचर है–विश्वास । इसे निष्ठा भी कहते हैं । किसी तथ्य को स्वीकार करने के पूर्व उस पर परिपूर्ण विचार कर लिया जाय । तर्क, प्रमाण, परामर्श परीक्षण आदि के आधार पर तथ्य का पता लगा लिया जाय और समुचित मन्थन के बाद किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जाय । इसमें देर लगे तो लगने देनी चाहिये । उतावली में इतना अधूरा निष्कर्ष न निकाल लिया जाय जिसे किसी तनिक से बहकावे मात्र से बदलने की बात सोची जाय । कई व्यक्ति विधि–विधानों के बारे में ऐसे ही अनिश्चित रहते हैं । एक के बाद दूसरे से पूछते फिरते हैं। फिर दूसरे–तीसरे से और तीसरे का चौथे से पूछते हैं । भारतीय धर्म का दुर्भाग्य ही है कि इसमें पग–पग पर मतभेदों के पहाड़ खड़े पाये जा सकते हैं । यदि मतभेदों और कुशंकाओं के जंजाल में उलझे रहा जाय, तो उसका परिणाम भ्रम–अश्रद्धा–अनिश्चितता एवं आशंका से मनःक्षेत्र भर जाने के अतिरिक्त और कुछ भी न होगा । ऐसी मनःस्थिति में किय गये धर्मानुष्ठानों के परिणाम नहीं के बराबर ही होते हैं । श्रद्धा–विश्वास का प्राण ही निकल गया, तो फिर मात्र कर्मकाण्ड की लाश लादे फिरने से कोई बड़ा प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा ।

विश्वास का तात्पर्य है जिस तथ्य को मान्यता देना उस पर दृढ़ता

के साथ आरूढ़ रहना । इस दृढ़ता का परिचय उपासनात्मक विधि–विधानों की जो मर्यादा निश्चित करली गयी है उन्हें बिना आलस उपेक्षा बरते पूरी तत्परता के साथ अपनाये रहने में मिलता है । विधि–विधानों के पालन करने के लिये शास्त्र में बहुत जोर दिया गया है और उसकी उपेक्षा करने पर साधना के निष्फल जाने अथवा हानि होने, निराशा हाथ लगने का भय दिखाया गया है। उसका मूल उद्देश्य इतना ही है कि विधानों के पालन करने में दृढ़ता की नीति अपनायी जाय । हानि होने का भय दिखाने में इतना ही तथ्य है कि अभीष्ट सत्परिणाम नहीं मिलता अन्यथा सत्प्रयोजन में कोई त्रुटि रह जाने पर भी अनर्थ की आशंका करने का तो कोई कारण है ही नहीं ।

साधना मार्ग पर चलने वाले को अपनी स्थिति के अनुरूप विधि–व्यवस्था का निर्धारण आरम्भ में ही कर लेना चाहिये । जो निश्चित हो जाय उसमें आलस उपेक्षा बरतने की ढील–पोल न दिखाई जाय । दृढ़ता न बरती जायगी तो आस्था में शिथिलता आने लगेगी । तत्परता मन्द पड़ जायेगी । फलतः मिलने वाला उत्साह और प्रकाश भी धूमिल हो जायगा ।

व्यायाम प्रयोगों द्वारा शरीर बल बढ़ता है–ज्ञान वृद्धि के लिये शिक्षा का सहारा लिया जाता है । धनी बनने के लिये उद्योग व्यवसाय अपनाने पड़ते हैं । उनके लिये अभीष्ट उपकरणों का संग्रह एवं प्रयोग करना पड़ता है । ठीक इसी प्रकार श्रद्धा और विश्वास को विकसित करने के लिये देव प्रतिमाओं को, तीर्थ स्थलों को, पूजा प्रतीकों को माध्यम बनाना पड़ता है। उन पर आरोपित की गयी श्रद्धा, प्रतिध्वनित और प्रतिफलित होकर साधक के पास वापस लौट आती है । गेंद को दीवार या धरती पर मारने से टकराने पर वह उसी स्थान पर लौटती है, जहाँ से उसे फेंका जाता है । शब्दवेधी बाणों के बारे में कहा जाता है कि वे लक्ष्य वेध करने के उपरान्त लौटकर फिर तरकस में आ घुसते थे । गुम्बज में की गयी आवाज गूँजती है और उच्चरित स्थान से आ टकराती है । पृथ्वी गोल है । सीधी रेखा बनाकर यदि लगातार चलते रहा जाय, तो चलने वाला लौटकर वहीं आ जायेगा, जहाँ से उसने चलना आरम्भ किया था । श्रद्धा को भी पूजा प्रतीकों पर फेंका जाता है। वे निर्जीव होने के कारण स्वयं तो कुछ नहीं

कर सकते, पर प्रतिक्रिया को प्रयोगकर्त्ता के ऊपर निश्चित रूप से वापस लौटा देते हैं। गोबर के बने गणेश भी उतना ही चमत्कारी फल प्रदान कर सकते हैं, जितना कि असली गणेश कुछ कर सकने में समर्थ हो सकते थे। एकलव्य ने मिट्टी द्वारा बनी द्रोणाचार्य की प्रतिमा से उतना लाभ प्राप्त कर लिया था, जितना कि असली द्रोणाचार्य से पाण्डवों को नहीं मिल सका। यह श्रद्धा की शक्ति का ही चमत्कार है। देवता का निवास काष्ठ-पाषाण आदि में नहीं रहता। "भावो हि विद्यते देव तस्मात् भावो हि कारणम्" भावना में ही देवता का निवास रहता है, अस्तु देव दर्शन से होने वाले लाभों में भावना का स्तर ही प्रमुख कारण है। भाव रहित होकर देव प्रतिमाओं की समीक्षा की जाय, तो वह धातु और पाषाण के सहारे प्रस्तुत की गयी कलाकृति के अतिरिक्त और कुछ भी न रह जायेगी।

श्रद्धा और विश्वास के अभिवर्धन में एक जीवित तत्व भी सहायक सिद्ध होता है और वह है-गुरु। आत्मिक प्रगति के क्षेत्र में सदा से "गुरु धारणा" की महत्ता को समझा और स्वीकारा जाता रहा है। उसे "गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु......." "अखण्ड मण्डलाकारं..........तस्मै श्रीगुरुवे नमः" "अज्ञान तिमिरान्धस्य........." आदि वन्दना स्तवनों में गुरु महिमा एवं गुरु भक्ति का बढ़ा-चढ़ा माहात्म्य प्रस्तुत किया गया है। इसमें निहित स्वार्थों का भोले लोगों की भावुकता का शोषण करने की प्रवृत्ति काम करती रही है और उससे अनर्थ मूलक अन्ध-विश्वास भी बहुत फैला है, पर यह कहने और मानने में भी कोई आपत्ति नहीं कि श्रद्धा तत्व की अभिवृद्धि और विश्वास की परिपुष्टि में गुरु धारण करने से अति महत्वपूर्ण प्रतिफल भी उपलब्ध होते हैं।

अध्यात्म दर्शन में सम्प्रदाय भेद से अगणित मान्यतायें प्रचलित हैं। वे एक-दूसरे से भिन्न ही नहीं प्रतिकूल एवं प्रतिपक्षी भी हैं। साधना विधानों के सम्बन्ध में भी यही बात है। ऐसी दशा में किसे अपनाया जाय, किसे न अपनाया जाय यह निर्णय कर सकना सामान्य बुद्धि के लिये अति कठिन होता है। संदिग्ध, शंकाशील और अनिश्चित मनःस्थिति में कोई बात न तो पूरी तरह गले उतरती है और न बताये मार्ग पर पूरे उत्साह के साथ चल सकना सम्भव होता है। आधे-अधूरे मन से प्रयोग-परीक्षण की तरह किये गये साधन सदा

निर्जीव होते हैं। उनका कोई कहने लायक परिणाम नहीं निकलता। इस असफलता से अविश्वास और भी पनपता है और अन्ततः निराशाग्रस्त होकर उस मार्ग से उदासीन होते–होते छोड़ देने की ही स्थिति आ पहुँचती है।

इस अनिश्चितता से बचने के लिये एक ऐसे प्रामाणिक अधिकारी की नियुक्ति आवश्यक होती है, जिसके निर्देश को स्वीकारणीय माना जा सके। फौजी अनुशासन में यही होता है। अफसर आज्ञा देता है और सैनिक उसका प्राणपण से पालन करता है। निर्देश के उचित–अनुचित होने का दायित्व अफसर पर रहता है। सैनिक के लिये इतना ही पर्याप्त है कि उसने आदेश का पूर्ण तत्परता के साथ पालन किया। साधना मार्ग में भी इसके अतिरिक्त और कोई गति नहीं। निज के समाधान के लिये किन्हीं सिद्धान्तों की उपयोगिता पर जितना कुछ तर्क, विवाद, अन्वेषण करना हो, उतना पूरी गहराई के साथ कर लेना चाहिये। इसी प्रकार इस मार्ग का पथ–प्रदर्शक चुनने से पूर्व उसके ज्ञान, अनुभव एवं चरित्र के सम्बन्ध में जितनी भी कुरेद–बीन करनी सम्भव हो वह कर लेनी चाहिये, पर अन्ततः ऐसी स्थिति में पहुँचना ही चाहिये कि किसी के निर्णय और निर्देश को स्वीकार्य अनुशासन की तरह ग्रहण किया जाय और पूर्ण विश्वास के साथ निर्धारित गतिविधि अपनाते हुए आगे बढ़ा–चला जाय। इतना बन पड़े, तो समझना चाहिये अनिश्चितता और आशंका की स्थिति का अन्त हो गया। अब विश्वासपूर्वक प्रयत्नशील रहकर अभीष्ट लक्ष्य प्राप्त कर सकना सम्भव हो सकेगा।

सिद्धान्तों और कार्यक्रमों के सम्बन्ध में गुरु के अनुशासन को स्वीकार किया जाना चाहिये। इसके लिये एक ही व्यक्ति का निर्देश प्राप्त करना पर्याप्त है। अनेकों मार्गदर्शक नियत करने पर उनके भिन्न–भिन्न अनुभव और निर्देश साधक के मन में फिर अनिश्चितता उत्पन्न कर देंगे। इसलिये एक विषय का एक ही निर्देशक होना चाहिये। कई चिकित्सकों की कई प्रकार की दवायें एक साथ खाने या उनके परामर्श से उलट–पुलट करते रहने से लाभ के स्थान पर हानि ही होती है। जीवन अनेक समस्या सूत्रों से बँधा हुआ है। उनकी विशिष्ट धाराओं के विशिष्ट मार्गदर्शक हो सकते हैं। मकान

बनाने में इन्जीनियर, इलाज में डाक्टर, मुकदमे में वकील को गुरु मानकर चला जा सकता है। भिन्न प्रकार के कार्यों के लिये भिन्न गुरु हो सकते हैं, पर जहाँ तक आत्मिक प्रगति के विशिष्ट मार्ग का सम्बन्ध है, वहाँ उस क्षेत्र के दक्ष व्यक्ति की ही सहायता लेनी चाहिये। गुरु एक हो या अनेक इस प्रश्न का एक ही उत्तर है–एक कार्य के लिये एक की ही नियुक्ति लाभदायक रहती है। इसमें निर्देश सम्बन्धी कोई भूल रहेगी, तो उसका दोष या दण्ड निर्देशक के पल्ले बँधेगा। साधक को अशुद्ध विधि से साधना करने पर भी अपने विश्वास के अनुरूप निश्चित रूप से सत्परिणाम ही मिल जायगा।

श्रद्धा की प्रेरणा है श्रेष्ठता के प्रति प्रीति–घनिष्ठता, तन्मयता एवं समर्पण की प्रवृत्ति। परमेश्वर के प्रति इसी भाव सम्वेदना को विकसित करने का नाम है–भक्ति। भक्त को भगवान के प्रति अनन्य प्रेम उत्पन्न करना पड़ता है और उसे इस स्तर का बनना पड़ता है कि सच्चे प्रेमी की तरह आत्मसात होने और आत्म–समर्पण के बिना चैन ही न पड़े। लौकिक जीवन में पत्नी को पति के प्रति इसी प्रकार के आत्म–समर्पण का अभ्यास करना पड़ता है। दीपक पतंग की उपमा इसी प्रसंग में दी जाती है। आमतौर से मनुष्यों के अन्तःकरण बड़े नीरस, शुष्क और कठोर होते हैं, उनमें दया, करुणा, ममता, श्रद्धा जैसी दिव्य भावनाओं का अभाव ही रहता है। अनभ्यस्त प्रक्रिया स्वभाव का अंग बने भी तो कैसे ? भजन–पूजन करने वाले कर्मकाण्डों के तो अभ्यस्त बन जाते हैं, पर उनका भी हृदय खोलकर देखा जाय, तो श्रद्धा तत्त्व की मात्रा नहीं के बराबर ही दीख पड़ती है। मशीन की तरह कर्मकाण्डों की चर्खी घुमाते रहने से बात बनती नहीं। उपासनात्मक क्रिया–कृत्य तो आवरण मात्र हैं। उनमें प्राण संचार कर सकने की शक्ति तो श्रद्धा में ही सन्निहित है। यदि जीवन ही न रहा, तो कठपुतली का तमाशा वह आनन्द नहीं देता, जो जीवन्त अभिनय में देखा जाता है।

प्रतिमा के माध्यम से श्रद्धा उत्पन्न करने का आधार निर्दोष तो है, पर उसमें प्रत्युत्तर दे सकने की क्षमता न होने के कारण सब कुछ एकांगी ही रह जाता है। अमुक आपत्तिकाल में लड़कियाँ अपने विवाह आँवले, पीपल आदि वृक्षों के साथ करके भी अपने अभिवावकों

को कन्यादान से निश्चिंत कराती रही हैं । इतने पर भी जीवित व्यक्ति के साथ विवाह करने पर उपलब्ध होने वाले आदान-प्रदान का लाभ उन्हें नहीं ही मिल सका होता । 'गरु' रूप में जीवित प्रतिमा में श्रद्धा तत्व की प्राण-प्रतिष्ठापना की जाती है और उसके सम्पर्क में अपनी दिव्य सम्वेदनाओं को अग्रगामी बनाया जाता है । इसमें आदान-प्रदान का प्रत्यक्ष सम्पर्क का क्रम चलता है और मार्गदर्शन की सुविधा रहती है । यदि गुरु दिव्य तत्व से सम्पन्न है, तो उसके सान्निध्य-अनुग्रह का प्रत्यक्ष प्रभाव भी उपलब्ध होता है । इससे व्यक्तित्व के विकास में अधिक सुविधा और सरलता रहती है ।

माता-पिता के समान ही गुरु को माना गया है । इस त्रयी को ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपमा दी गयी है । हिन्दुत्व का प्रतीक यज्ञोपवीत के रूप में धारण किया जाता है । इस संस्कार के अवसर पर गुरु द्वारा गायत्री मन्त्र लेने का विधान है । अध्यापक की सहायता बिना शिक्षा प्राप्त करना कठिन पड़ता है और गुरु के बिना विद्या का व्यावहारिक स्वरूप हृदयंगम किया जाना कठिन पड़ता है, यों जानने भर की बात तो पढ़ने या सुनने भर से भी बन जाती है । आत्मोत्कर्ष की साधना में तो गुरु वरण करने की आवश्कता एक प्रकार से अनिवार्य ही मानी गयी है । इस व्यवस्था में श्रद्धा तत्व के विकास में एक उपयोगी आधार खड़ा करना होता है । यदि इस चयन एवं नियुक्ति के लिये कोई उपयुक्त सत्पात्र मिल गया, तो समझना चाहिये कि सफलता की आधी मंजिल पार हो गयी । निष्णात् अध्यापक एवं चिकित्सक का सम्पर्क सध जाने से शिक्षा की, चिकित्सा की सफलता प्रायः असंदिग्ध ही हो जाती है, यही बात साधना मार्ग के सम्बन्ध में भी है । प्रखर व्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने पर सामान्य व्यक्ति भी असामान्य बनते देखे गये हैं । फिर विधिवत् श्रद्धासिक्त आत्मीयता के सूत्र में बाँधने वाली गुरु दीक्षा की प्रतिक्रिया उपयोगी परिणाम क्यों न उत्पन्न करेगी ? उपासना के विधि-विधान का मार्ग-दर्शन तो सरल है । उतनी आवश्यकतायें तो पुस्तकें भी पूरी कर देती हैं । जटिलता तो जीवन साधना में पड़ती है । आये दिन उतार-चढ़ाव और मोड़-तोड़ आते रहते हैं । उनके समाधान का दूरदर्शी निष्कर्ष अनगढ़ बुद्धि से नहीं निकल पाता, वह प्रायः भटकती और अनुपयुक्त निर्णय करती

देखी गयी है । ऐसी दशा में यदि सत्परामर्श की समुचित व्यवस्था बन सके तो सर्वतोमुखी प्रगति के उपयोगी आधार खड़े होते चले जाते हैं। ऐसे ही अनेकों लाभ हैं, जिनको ध्यान में रखते हुए गुरु वरण करने की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है । उपयुक्त व्यक्ति पर उपयुक्त मात्रा में सत् श्रद्धा का सूत्र स्थापित किया जाय, तो कठिन यात्रा में जानकार और बफादार साथी की तरह लक्ष्य प्राप्ति में बहुत ही सरलता पड़ती है । इस सम्पर्क से एक पक्ष को वात्सल्य देने का और दूसरे को उसे पाने का लाभ मिलता है । गाय और बच्चा दोनों को ही असीम सन्तोष मिलता है । गुरु और शिष्य का यदि उभय-'पक्षीय आदर्शवादी सम्बन्ध बन जाय, तो फिर उस मिलन का सत्परिणाम सोना और सुगन्ध मिलने की उक्ति से भी अधिक उत्साहवर्धक होता है ।

सद्गुरु की प्राप्ति-एक दिव्य वरदान

सद्गुरु की महिमा गाते-गाते शास्त्रकार थकते नहीं । मनीषियों ने निरन्तर यही कहा है कि आत्मिक प्रगति के लिये गुरु की सहायता आवश्यक है। इसके बिना आत्म-कल्याण का द्वार खुलता नहीं । साधना सफल होती नहीं । सामान्य जीवन-क्रम में माता, पिता और गुरु को देव माना गया है और उनकी अभ्यर्थना समान रूप से करते रहने का निर्देश किया गया है ।

जिस सद्गुरु का माहात्म्य वर्णन शास्त्रकारों ने किया है, वह वस्तुतः मानवी अन्तःकरण ही है । निरन्तर सद्शिक्षण और ऊर्ध्वगमन का प्रकाश दे सकना इसी केन्द्र तत्व में सम्भव है । बाहर के गुरु शिष्य की वास्तविक मनःस्थिति का बहुत ही स्वल्प परिचय प्राप्त कर सकते हैं अस्तु उनके परामर्श भी अधूरे ही रहेंगे । फिर कोई बाहरी गुरु हर समय शिष्य के साथ नहीं रह सकता, जबकि उसके सामने निरूपण और निराकरण के लिये अगणित समस्यायें पग-पग पर, क्षण-क्षण में प्रस्तुत होती रहती हैं । इनमें से किसका किस प्रकार समाधान किया जाय ? इसका माग-दर्शन करने के लिये किसी व्यक्ति विशेष पर निर्भर नहीं रहा जा सकत भले ही वह कितना ही सुयोग्य क्यों न हो ? सुयोग्य व्यक्ति अपने गज से सबको नाप सकते हैं और ऐसी सलाह दे सकते हैं, जो उन्हीं के लिये फिट बैठतीं । दूसरों की स्थिति में भिन्नता रहने से परामर्श का स्तर भी बदल जाता है-यह अन्तर कौन करे ? इसे केवल अपना अन्तःकरण ही कर सकता है । क्योंकि भीतरी और बाहरी परिस्थितियों की वास्तविक जानकारी जितनी अपने आपको हो सकती है, उतनी और किसी को नहीं ।

अपने अन्तःकरण को निरन्तर कुचलते रहने-उसकी पुकार को अनसुनी करते रहने से आत्मा की आवाज मंद पड़ जाती है । पग-पग पर अत्यन्त आवश्यक और अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रकाश देते रहने वालों को ही दुर्बुद्धिग्रस्त और दुष्कर्म लिप्त पाया जाता है अन्यथा सजीव आत्मा की प्रेरणा सामान्य स्थिति में इतनी प्रखर होती है कि कुमार्ग का अनुसरण कर सकना मनुष्य के लिये संभव ही नहीं होता ।

यह आत्मिक प्रखरता ही वस्तुतः सद्गुरु है इसी का नमन, पूजन और परिपोषण करना गुरु भक्ति का यथार्थ स्वरूप है ।

गुरु–दीक्षा इस व्रत धारण का नाम है कि "हम अन्तरात्मा का अनुसरण करेंगे ।" ऐसा निश्चय करने वाला व्यक्ति मानवोचित चिन्तन और कर्तृत्व से विरत नहीं हो सकता, जैसे ही अचिन्त्य चिन्तन मनःक्षेत्र में उभरता है वैसे ही प्रतिरोधी देवतत्व उसके दुष्परिणामों के सम्बन्ध में सचेत करता है और भीतर ही भीतर एक अन्तर्द्वन्द उभरता है । यदि मनःचेतना को कुचल–कुचल कर मूर्च्छित न बनाया गया हो तो वह इतनी प्रखर होती है कि अचिन्त्य चिन्तन के साथ विद्रोह खड़ा कर देती है और उस अवांछनीय विजातीय तत्व के पैर उखाड़कर ही दम लेती है ।

शास्त्रकारों ने सद्गुरु का वन्दन करते हुए उसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश की उपमा दी है । परमानन्ददायक परब्रह्म कहा है । यह उपमा किसी व्यक्ति विशेष के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकती, भले ही वह कितना ही सुयोग्य क्यों न हो ? यह वर्णन विशुद्ध रूप से परिष्कृत अन्तःकरण के लिये किया गया है । गुरु को गोविन्द से बढ़कर मानने की मान्यता अन्तरात्मा को परमात्मा का उपलब्धि आधार समझने के लिये ही प्रतिष्ठापित की गयी है । निरन्तर सत्परामर्श देने के लिये अहर्निश साथ रहना उसी के लिये सम्भव है । अपनी वस्तुस्थिति को समझने और तदनुरूप प्रगति पथ पर आगे बढ़ने का क्रम निर्धारण कर सकना उसी के लिये संभव है । अस्तु सद्गुरु की उपमा ऐसी परिष्कृत और प्रखर अन्तरात्मा को ही दी गयी है, जो अवांछनीयता का डटकर प्रतिरोध खड़ा कर सके और अकर्म में उद्यत उन्मुक्त हाथी जैसे दुस्साहस को जंजीरों में जकड़ कर उलटा टाँग सके ।

व्यक्ति विशेष को गुरु मानने की भी आवश्यकता पड़ती है, पर उसका कार्य सद्गुरु की पहचान करा देना, उसका भक्त–उपासक बना देना भर है । इतने भर से उसकी आवश्यकता पूरी हो जाती है । यात्रा पूरी करने में टाँगों की ही प्रधान भूमिका रहती है, लाठी तो सहारा भर देती है । सद्गुरु हमें पार उतारते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिये शरीरधारी गुरु भी अपने ढंग की आरम्भिक किन्तु महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न करते हैं । इसलिये पूजन–वन्दन उनका भी किया जाता है ।

अध्यात्म साधना के क्षेत्र में प्रगति करने के लिये प्रत्यक्ष गुरु का

सहयोग नितान्त आवश्यक है। राम और लक्ष्मण का युग्म ही लंका विजय में समर्थ हुआ था। महाभारत की सफलता कृष्ण और अर्जुन के मिलन ने सम्भव की थी । छात्र कितना ही परिश्रम करे, बिना शिक्षक के मौखिक या लिखित ज्ञान दान के बिना उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं होता । कला, शिल्प, विज्ञान, चिकित्सा जैसे महत्वपूर्ण विषयों के विद्यार्थी मात्र मौखिक ही नहीं क्रियात्मक व्यावहारिक शिक्षा भी प्राप्त करते हैं । इसके बिना वे अपने विषय में निष्णात-पारंगत नहीं हो सकते ।

गुरु और शिष्य मिलकर यही प्रयोजन करते हैं । कान में मन्त्र फूँक देना या कर्मकाण्ड विधि-विधान बता देने से काम नहीं चल सकता। उन्हें अपनी शक्ति का एक अंश भी देना पड़ता है। इस अनुदान के बिना आत्मिक प्रगति के पथ पर बहुत दूर तक नहीं चला जा सकता । पहाड़ों की ऊँची चढ़ाई चढ़ने के लिये लाठी का सहारा लेना पड़ता है । छत पर चढ़ने के लिये सीढ़ी का अवलम्बन चाहिये । यही प्रयोजन आत्मिक प्रगति के पथ पर चलने वाले पथिक के लिये उसका मार्गदर्शक एवं साथी सहयोगी पूरा करता है । गुरु की आवश्यकता इसी प्रयोजन को पूर्ण करने के लिये पड़ती है।

माता के उदर में रखे बिना, अपना रक्त-मांस दिये बिना, दूध पिलाये बिना भ्रूण की जीवन प्रक्रिया गतिशील नहीं हो सकती। बालक भोजन, वस्त्र आदि की सुविधायें स्वयं उपार्जित नहीं कर सकता, उसे इसके लिये अभिभावकों की सहायता अभीष्ट होती है । छात्र अपने आप पढ़ तो सकता है, पर उसे पुस्तक, फीस आदि का खर्च पिता से और शिक्षण सहयोग अध्यापक से प्राप्त करना पड़ता है । इसके बिना उसका शिक्षा क्रम मात्र एकाकी पुरुषार्थ से नहीं चल सकता । माता-पिता अपनी सन्तान का पालन-पोषण करते हैं, वे बच्चे बड़े हो जाने पर अपने बच्चों के लालन-पालन की जिम्मेदारी उठाते हैं । यही क्रमानुगत परम्परा चलती रहती है। अध्यात्म मार्ग की प्रगति प्रक्रिया भी इसी प्रकार चलती है । गुरु अपने शिष्य को अपनी तप पूँजी प्रदान करता है, तदुपरान्त शिष्य भी उसे अपने लिये दाव कर नहीं बैठ जाता वरन् उस परम्परा को अग्रगामी रखते हुए अपने छात्रों की सहायता करता है।

यों धर्म के दस लक्षणों और यम-नियमों के दस योग आधारों

का पालन करते हुए कोई भी व्यक्ति सहज सरल रीति-नीति से जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकता है । न इसमें किसी गुरु की आवश्यकता है न शिष्य की। राजमार्ग पर सही पैरों पर चल सकने वाला व्यक्ति मील के पत्थरों को देखते-गिरते यथास्थान पहुँच सकता है, पर जिसे उस यात्रा के समीपवर्ती अद्‌भुत स्थलों को देखना, जानना और वहाँ मिलने वाली उपलब्धियों से लाभान्वित होना हो, उसे उस क्षेत्र से परिचित और उपलब्ध हो सकने वाली वस्तुओं को देने दिलाने में कुशल किसी अनुभवी सहयोगी की आवश्यकता पड़ती है। यदि यह सहयोग न मिल सके, तो फिर यात्रा चलती रहती है, पर वह नीरस अतिरिक्त उपलब्धियों से रहित एक गतिशीलता मात्र रह जाती है । अध्यात्म पथ में प्रगति करते हुए हर्षोल्लास का आनन्द लेते चलना हो, तो फिर कुशल सहयोगी की सहायता अनिवार्य ही हो जायेगी । गुरु-शिष्य का सम्मिलन-सम्मिश्रण उसी आवश्यकता की पूर्ति करता है ।

मेडीकल कालेज में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में वह सब कुछ लिखा है जो वहाँ पढ़ाया जाता है अथवा डाक्टर बनने के लिये जो जानना चाहिये किन्तु सर्जरी में कोई छात्र तब तक निष्णात नहीं हो सकता, जब तक कि उसे उस तरह की व्यावहारिक शिक्षा कुशल सर्जन के तत्वावधान में न मिले । यों आपरेशन की सारी प्रणाली चित्रों सहित पुस्तकों में लिखी रहती हैं फिर भी प्रत्यक्ष पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता बनी ही रहती है। इन्जीनियरिंग, कला, संगीत, युद्ध विद्या, रसायन आदि के बारे में भी यही बात है। ऊँची कक्षाओं की बात छोड़िये, बाल कक्षा के बालकों के हाथ सचित्र बाल पोथी थमा देने पर भी वे अक्षर और अंक तब तक नहीं याद कर पाते जब तक कि अध्यापक का प्रत्यक्ष सहयोग उन्हें प्राप्त न हो। फिर आत्मिक प्रगति जैसे प्रत्यक्ष अप्रचलित और दुरूह विषय का प्रशिक्षण तो एकाकी बन ही कैसे पड़ेगा ?

रामकृष्ण परमहंस बनने के लिये जन्म-जन्मान्तरों की कठोर साधना अभीष्ट है, पर विवेकानन्द बनना सरल है । समुद्र बनना कठिन है, पर उसका पानी लेकर आकाश में बादल की तरह उड़ने लगना सरल है । समर्थगुरु रामदास बनने के लिये जन्म की कठिन गति और तलवार की धार पर चलने जैसी साधना करने का साहस सामान्य

व्यक्तियों के पास नहीं होता । शिवाजी के रूप में एक नगण्य से व्यक्तित्व वाले बालक का विकसित हो जाना भी सरल है । पारस मणि बनना कठिन है, पर लोहे का उसे छूकर सोना बन जाना सरल है । चाणक्य जैसी अग्नि तत्व का प्रतिनिधित्व कर सकने वाली सत्ता बन सकना हर किसी का काम नहीं । पर एक दासी पुत्र का दिग्विजयी सम्राट बनना सरल है । बुद्ध जैसी प्रतिभायें कभी–कभी, ईश्वरीय इच्छानुसार अवतरित होती हैं, पर उनकी छाया में अशोक, आनन्द, अंगुलिमाल, आम्रपाली आदि असंख्य व्यक्ति लघुता की परिधि लाँघते हुए महत्ता का वरण कर सकते हैं । गांधी कभी–कभी ही उत्पन्न हो सकते हैं, पर उनका अनुगमन करने वाले राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, लोकनेता और ऐतिहासिक महापुरुषों की पंक्ति में अपनी गणना सहज ही करा सकते हैं ।

आत्मिक प्रगति की उपलब्धियाँ भौतिक प्रगति की तुलना में असंख्य गुनी सामर्थ्य सम्पन्न और हर्षोल्लासमय हैं । उन्हें प्राप्त कर सकना मानव जीवन की सबसे बड़ी और सबसे महान सफलता है, जो इस दिशा में बढ़ सका समझना चाहिये हर दृष्टि से कृतकृत्य हो गया ।

इस मार्ग पर चलने के इच्छुक साधक को अनुभवी और सही मार्गदर्शक की आवश्यकता अनिवार्य रूप से जुटानी पड़ती है । साथ ही यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि कोई विदूषक गुरु पद का प्रहसन रचे न बैठा हो और अपने साथ–साथ अनुगमन कर्त्ता को भी न डुबो रहा हो । सही मार्ग दर्शन की तलाश में निकले हुए आत्मपथ के पथिक को जहाँ श्रद्धालु होना चाहिये, वहाँ सतर्क भी अन्यथा इस धूर्तता के युग में किसी अहेरी के जाल में फँसकर प्रगति तो दूर जो पास में था, उसे भी गँवा बैठेगा । जिन्हें समर्थ, आत्मबल सम्पन्न और अनुभवी गुरु का प्रत्यक्ष मार्गदर्शन मिल गया, तो समझना चाहिये कि आत्मिक प्रगति के लिये एक सशक्त अवलम्बन प्राप्त हो गया । ऐसे गुरु न केवल शिष्य का साधनात्मक मार्गदर्शन करते हैं वरन् अपनी शक्ति का एक अंश देकर साधक को आत्मबल से अनुग्रहीत करते हैं । साधना ग्रन्थों के अलंकारिक वर्णनों में उस आदान–प्रदान की प्रक्रिया को ही 'शक्तिपात' नाम से सम्बोधित किया गया है ।

गुरु द्वारा अपनी शक्ति को हस्तांतरित करने शक्तिपात द्वारा शिष्य

की क्षमताओं को विकसित करने की घटनाओं का उल्लेख योग ग्रन्थों में अनेकों स्थानों पर मिलता है। पहले योग मार्ग पर चलने–साधना पथ पर बढ़ने वाले प्रत्येक व्यक्ति एवं साधक के मन में यह जिज्ञासा उठती है कि शक्तिपात का स्वरूप क्या है ? उसकी प्रक्रिया क्या है ? इस प्रक्रिया में वैज्ञानिकता का अंश कितना है ? शक्तिपात की घटनायें यदि सच हैं तो क्या प्रत्येक व्यक्ति ऐसे समर्थ व्यक्ति, व्यक्तियों, महापुरुषों से यह अनुपम उपहार प्राप्त कर सकता है ? यदि ऐसा सम्भव है, तो उसका स्वरूप क्या है ? सामान्य व्यक्ति इसकी परख किस प्रकार कर सकता है ? आदि ऐसे प्रश्न हैं, जो विचारणीय हैं। साधन मार्ग की ओर उन्मुख हर साधक यह जानने का इच्छुक होता है।

विवेकानन्द संचयन पुस्तक में उल्लेख मिलता है कि रामकृष्ण की अलौकिक शक्ति के संचार का अनुभव विवेकानन्द को हुआ है। उस अवधि में उन्हें दिव्य अनुभूतियाँ हुईं, जो वर्णनातीत हैं। इसी प्रकार का प्रसंग योगानन्द के जीवन चरित्र एवं आटोवाईग्राफी आफ ए योगी' को पढ़ने पर भी मिलता है। श्रीमाताजी एवं अरविन्द की पुस्तकों में भी इसी प्रकार कर वर्णन आता है। यह पढ़कर प्रत्येक के मन में वास्तविकता जानने की इच्छा होती है। जो उचित है और स्वाभाविक भी।

गुरु–शिष्य परम्परा में शक्ति–पात की यथार्थता पर शक नहीं किया जा सकता। गुरु के अनुदानों को पाकर सामान्य व्यक्ति भी असामान्य महापुरुषों की श्रेणी में जा पहुँचे, इन प्रसंगों से पुराण इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं, पर प्रचलित भ्रान्तियों ने शक्तिपात के स्वरूप को ऐसा बना दिया है, जिससे सामान्य व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो जाय। शक्तिपात के नाम से तथाकथित गुरुओं ने ऐसे जाल–जंजाल खड़े किये हैं, जिन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति भटक सकता है। अतएव इसके वास्तविक स्वरूप को समझना आवश्यक है।

साधना पथ में गुरुवरण करना होता है। 'गु' का अर्थ है–अन्धकार, 'र' से अभिप्राय है–प्रकाश। जो अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चले उसे गुरु कहते हैं। गुरु भी दो हैं। एक तो अपने अन्तरात्मा के रूप में बैठा प्रेरणा प्रदान करता रहता है। दूसरा वह

जिसे व्यक्ति के रूप में वरण करते हैं । महत्ता दोनों की ही है । मानवी दृष्टि स्थूल है । इस कारण वह सूक्ष्म आत्म प्रेरणाओं को नहीं समझ पाती। आत्मबल को जगाने का भी काम गुरु ही करता है, अपने आत्मबल द्वारा वह शिष्य में ऐसी प्रेरणायें भरता है, जिससे वह सद्मार्ग पर चल सके । साधना मार्ग के अवरोधों एवं विक्षोभों के निवारण में गुरु का असाधारण योगदान होता है । मानवी सत्ता असीम सामर्थ्यों से युक्त है । सम्भावनायें अनन्त हैं, पर जब तक यह आत्मबोध न हो जाय अन्तःशक्ति सम्पन्नता का लाभ मनुष्य को नहीं मिल पाता । गुरु की यही भूमिका होती है । वह शिष्य को अन्तःशक्ति से परिचित ही नहीं कराता वरन् उसे जागृत एवं विकसित करने के हर सम्भव उपाय भी बताता है। उसकी समर्थता का लाभ साधक को आत्मबल एवं मनोबल के रूप में मिलता है, जो साधक को अवांछनीयताओं से लड़ने अन्तःविकारों को उखाड़ने की सामर्थ्य देता है।

गुरु का यह अनुदान शिष्य अपनी आन्तरिक श्रद्धा के रूप में उठाता है । जिस शिष्य में आदर्शों एवं सिद्धान्तों के प्रति जितनी अधिक निष्ठा होगी, वह गुरु के इस अनुदान से उतना ही अधिक लाभान्वित होता है । प्रत्येक शिष्य अपनी श्रद्धा पूँजी के अनुरूप उसे प्राप्त करता है। समर्थ गुरु के अनुग्रह इसी रूप में बरसते हैं । जिनको प्राप्त कर शिष्य अपनी सामर्थ्य बढ़ाता है तथा व्यक्तित्व सम्पन्न बनता जाता है। शक्तिपात का यही दर्शन है। यह एक समय साध्य एवं साधन साध्य प्रक्रिया है जो अपनी श्रद्धा अभिपूरित साधना द्वारा साधक गुरु से प्राप्त करता है । यह एक आकस्मिक क्रिया नहीं है, जिसके द्वारा तत्काल चमत्कारी शक्तियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । वरन् एक लम्बे समय तक चलने वाली साधना पद्धति है, जिसके अवलम्बन से शिष्य अपनी शक्तियों का विकास करता है । कुसंस्कारों का निष्कासन कर व्यक्तित्व सम्पन्न बनता है ।

सद्गुरु का शक्तिपात इसी रूप में होता है । शिष्य को व्यक्तित्व सम्पन्न बनाने—आत्मबल बढ़ाने के रूप में असामान्य पक्ष भी है, पर वह सर्वसुलभ नहीं । पात्रता के अभाव में संकट भी है । वह किन्हीं—किन्हीं को प्राप्त होती है । जिन्होंने अपनी क्षमता इस स्तर पर

विकसित कर ली है कि शक्ति के अवतरण को धारण कर सकें ऐसे व्यक्तियों को अनुदान भी मिलते हैं, पर यह प्रक्रिया उच्चस्तरीय है । सर्वजनीन नहीं । विवेकानन्द, योगानन्द को गुरु का शक्तिपात किस रूप में हुआ था, यह विवादास्पद प्रश्न है। उन अनुभूतियों का वर्णन कर सकना सम्भव नहीं । पर गुरु के अनुग्रह की फलश्रुति क्या निकली, उनके जीवन में क्या परिवर्तन आया, इससे सभी परिचित हैं। लोहा जिस प्रकार पारस के सम्पर्क में आकर सोना बन जाता है, उसी प्रकार उनके जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आया । जन प्रवाह में बहते हुए ढर्रे के जीवन से मुख मोड़कर वह मार्ग अपनाया, जो कठिनाइयों से भरा था । संघर्षों का सहर्ष आह्वान किया तथा उनसे व्यक्तित्व को इतना परिष्कृत किया जिससे सभी लोग प्रकाश एवं प्रेरणा ले सकें । विवेकानन्द में रामकृष्ण परमहंस का व्यक्तित्व झाँकता दिखाई पड़ता था । शक्तिपात से समय क्या अनुभूति हुई ? कैसे दृष्य दिखाई पड़े ? जैसे प्रश्नों से कोई लाभ नहीं । उसकी परिणति क्या हुई महत्व इसका है । चरित्र की उत्कृष्टता एवं व्यक्तित्व की समग्रता ही गुरु अनुग्रह की वास्तविक उपलब्धि है। यह जिस भी साधक में जितनी अधिक मात्रा में दीख पड़े समझा जाना चाहिये गुरु का उतना ही अधिक शक्तिपात उस शिष्य में हुआ है ।

यही एकांगी चलने वाली प्रक्रिया नहीं है वरन् दोहरी पद्धति है । गुरु के अनुदान बरसाने में शिष्य को अपनी सघन श्रद्धा का आरोपण करना पड़ता है । श्रद्धा की परिणति चरित्र निष्ठा के रूप में होती है । पात्रता के विकास द्वारा ही साधक अनुदानों का लाभ उठा पाते हैं ।

महाप्रज्ञा की उपासना : तत्वदर्शन और माहात्म्य

मानवीय सत्ता में सन्निहित समझ को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक 'बुद्धि' जो शरीर यात्रा के काम आती है, तदनुरूप चिन्तन, प्रयास एवं व्यवहार का ताना-बाना बुनती है। दूसरी वह जो ईश्वरीय नियम-मर्यादाओं में रस लेती है। क्षुद्र को महान के साथ एकीभूत बनाने के लिये उत्कृष्टता अपनाती और उच्चस्तरीय प्रगति के लिये साहस सँजोती है। इसे 'प्रज्ञा' कहते हैं। बुद्धि दैत्य का-वैभव का समर्थन करती है और प्रज्ञा देवत्व का समर्थन करती है दिव्य के साथ तादात्म्य होने की उमंगों से भरी रहती है। बुद्धि का उपार्जन सम्पदा भर है। ललक-लिप्सा की पूर्ति भर से उसका काम चल जाता है किन्तु प्रज्ञा के लिये विभूतियों से कम में चैन नहीं। विभूतियाँ अर्थात् श्रेष्ठता के साथ रमण करने की सरसतायें, और उस मार्ग पर रास्ते में मिलने वाले परमार्थ प्रयोजनों में काम आने वाली सिद्धियाँ।

व्यापक आकाश ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। पिण्ड में, काया में जो थोड़ी-सी पोल भरी होती है, उसे पिण्ड आकाश कहते हैं। तत्व-दर्शन की भाषा में विस्तृत को मठाकाश और सीमित को घटाकाश कहा जाता है। प्रज्ञा व्यक्तिगत जीवन को अनुप्राणित करती है। इसे ऋतम्भरा अर्थात् श्रेष्ठ में ही रमण करने वाली कहते हैं। महाप्रज्ञा इस ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। उसे दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सद्भावना, उदारता के रूप में प्राणियों पर अनुकम्पा बरसाते और पदार्थों को गतिशील, सुव्यवस्थित एवं सौन्दर्ययुक्त बनाते देखा जा सकता है। परब्रह्म की वह धारा जो मात्र मनुष्य के काम आती एवं बढ़ाने, ऊँचा उठाने की भूमिका निभाती है-महाप्रज्ञा है। ईश्वरीय अगणित विशेषताओं एवं क्षमताओं से प्राणि जगत एवं पदार्थ जगत उपकृत होते हैं किन्तु मनुष्य को जिस आधार पर ऊर्ध्वगामी बनने परमलक्ष्य तक पहुँचने का अवसर मिलता है, उसे महाप्रज्ञा ही समझा जाना चाहिये। इसका जितना अंश जिसे, जिस प्रकार भी उपलब्ध हो जाता है, वह उतने ही

अंश में कृत–कृत्य बनता है । मनुष्य में देवत्व का, दिव्य क्षमताओं का उदय उद्भव मात्र एक ही बात पर अवलम्बित है कि महाप्रज्ञा की अवधारणा उसके लिये कितनी मात्रा में सम्भव हो सकी ।

महाप्रज्ञा को अध्यात्म की भाषा में गायत्री कहते हैं । इसके दो पक्ष हैं–एक दर्शन, दूसरा व्यवहार । तत्व–दर्शन अर्थात् अध्यात्म । शालीनता युक्त आचरण अर्थात् धर्म । आत्मिकी के क्षेत्र पर गायत्री का आधिपत्य है और भौतिकी का सूत्र संचालन सावित्री करती है । यह दोनों नाम एक ही दिव्य सत्ता के हैं, यह नाम भेद उनकी प्रयोग प्रक्रिया को देखकर किया गया । एक ही व्यक्ति को कुश्ती लड़ते समय पहलवान, प्रवचन करते समय विद्वान कहा जा सकता है । दो समयों पर दो नामों से संबोधित किये जाने पर भी वस्तुतः वह रहता एक ही है । महाप्रज्ञा है तो एक ही, पर उसे श्रद्धा भक्ति के और पुण्य प्रयोजनों में अपनी भूमिका अलग–अलग ढंग से निभाते हुए भी देखा जा सकता है । बिजली कभी हीटर जलाकर गर्मी पैदा करती है और कभी रेफ्रीजरेटर के माध्यम से बर्फ जमाती है । यह एक ही शक्ति की दो प्रक्रियायें मात्र हैं। गायत्री की महाप्रज्ञा की परिणति अन्तःक्षेत्र, में दिव्य लोक में, विभूतियों की तरह भौतिक क्षेत्र में, लोक व्यवहार में सम्पदाओं के रूप में दृष्टिगोचर होती है । इन्हीं को ऋद्धि एवं सिद्धि भी कहते हैं ।

गायत्री को मोटी बुद्धि से संस्कृत भाषा के चौबीस अक्षरों का एक शब्द गुच्छक–मन्त्र समझा जा सकता है और उसे आमतौर से पूजा प्रयोजनों में जप के रूप में प्रयुक्त होते देखा जा सकता है । वस्तुतः उसका विस्तार अत्यधिक व्यापक है । समग्र चेतना को विराट् ब्रह्म–प्रज्ञा पुरुष कहा जाता है। उसका अवगाहन, अवधारण करने वाले का क्रमशः महामानव, सिद्ध पुरुष, ऋषि एवं देवदूत बनते हुए पूर्ण सत्ता के साथ तादात्म्य हो जाता है । आत्मा की उसी उत्कृष्टतम स्थिति को व्यवहार–क्षेत्र में स्वर्ग की एवं अन्तरंग क्षेत्र में मुक्ति की उपलब्धि कहा जाता है ।

महाप्रज्ञा असंख्य समर्थताओं की जन्मदात्री है । गायत्री को त्रिपदा कहा गया है। उसके तीन चरण सत्, चित्, आनन्द के नाम से जाने जाते हैं । उन्हें गंगा, यमुना, सरस्वती का त्रिवेणी संगम भी कहा

जाता है । देव प्रतिपादन में इन्हीं का ब्रह्मा, विष्णु, महेश एंव सरस्वती, लक्ष्मी, काली के नाम से अलंकारिक उल्लेख होता है। इन्हीं त्रिविध प्रवाहों को सत्, रज, तम की संज्ञा देते और समग्र सृष्टि का आधारभूत कारण मानते हैं । गायत्री को वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा गया है । वेद अर्थात् दिव्य ज्ञान। वेदमाता अर्थात् दिव्य ज्ञान की अधिष्ठात्री । देव अर्थात् पवित्र और प्रखर। देवमाता अर्थात् अपने अंचल में बैठने वाले की सत्ता को देवोपम बना देने वाली। विश्व अर्थात् विराट्। विश्वमाता अर्थात् अनेकता को एकता में, बिखराव को केन्द्रीकरण में समेटने वाली–'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर आत्मीयता को व्यापक बनाने वाली । इस त्रिवेणी में मनुष्य की आस्था, विचारणा एवं प्रवृत्ति को, समग्र चेतना को स्नान करने का अवसर मिलता है, तो स्थिति कायाकल्प जैसी बन जाती है । इन त्रिविध अनुदानों की प्राप्ति के लिये भक्ति योग, ज्ञान योग और कर्म योग की पुण्य प्रक्रिया का सुविस्तृत साधना तन्त्र खड़ा किया गया है। इन्हीं के सहारे कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर को परिष्कृत किया जाता है ।

देव संस्कृति का भाव पक्ष 'ब्रह्म–विद्या' कहलाता है । ब्रह्म–विद्या का विवेचन आर्ष वाङ्मय में हुआ है । आप्त वचनों में उसी की चर्चा होती है। वेद्, उपनिषद्, दर्शन, आरण्यक, ब्राह्मण, सूत्र, पुराण आदि के रूप में जितना भी शास्त्र विवेचन है, उसे ब्रह्म विद्या की व्याख्या–विवेचना कह सकते हैं । इस सारे विस्तार में महाप्रज्ञा गायत्री का ही विभिन्न स्तरों पर प्रकाश डाला गया है । भगवान के अवतार २४ हुए हैं। यह गायत्री के चौबीस अक्षरों में सन्निहित मर्मों का एक–एक करके, एक–एक प्रयोजन के लिये किया गया रहस्योद्घाटन ही समझा जा सकता है। एक ही तथ्य को मानवी संरचना एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर किया गया यह विवेचन भी है जिसे 'ब्रह्म–विद्या' के अन्तर्गत किया गया विशालकाय शास्त्रीय निर्धारण कहा समझा जा सकता है । एक शब्द में इस समस्त परिकर को गायत्री का तत्वदर्शन भी कह सकते हैं। इस प्रतिपादन में वह समूचा निर्धारण विद्यमान है जो मनुष्य को उच्चस्तरीय मार्ग पर चलते हुए अभीष्ट–अनिवार्य होता है ।

ज्ञान और कर्म का युग्म है। सिद्धान्त और अभ्यास के समन्वय से ही किसी तथ्य को हृदयंगम करना, स्वभाव, व्यवहार में उतारना शक्य होता है । ज्ञान का दूसरा पक्ष विज्ञान है। ज्ञान अर्थात् आस्था, विज्ञान अर्थात् पराक्रम । दोनों के समन्वय से ही पूरी बात बनती है। बिजली के धन और ऋण प्रवाहों के मिलन–समन्वय से ही 'करेण्ट' उत्पन्न होता है । महा–प्रज्ञा का ब्रह्म–विद्या पक्ष अन्तःकरण को उच्चस्तरीय आस्थाओं से आनन्द विभोर करने के काम आता है। दूसरा पक्ष साधना है, जिसे विज्ञान या पराक्रम कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत आस्था को उछाला और परिपुष्ट किया जाता है। मात्र ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता, कर्म के आधार पर उसे संस्कार, स्वभाव और अभ्यास के स्तर तक पहुँचाना होता है । साधना का प्रयोजन श्रद्धा को निष्ठा में–निर्धारण को अभ्यास की स्थिति में पहुँचाना है। इसलिये तत्वज्ञानियों को भी साधना का अभ्यास क्रम नियमित रूप से चलाना होता है ।

चिन्तन को उत्कृष्टता के साथ जोड़ने की प्रक्रिया योग से और आदतों को निकृष्टता से विरत कर उत्कृष्टता क्षेत्र में उछाल देने की आवश्यकता तप के सहारे सम्पन्न की जाती है। प्रवाह को तोड़ने–मरोड़ने के लिये इससे कम में बात बनती ही नहीं । मान्यतायें और आदतें बड़ी ढीठ होती हैं। समझाने–बुझाने से वे औचित्य के सामने हतप्रभ तो हो जाती हैं, पर अपनी स्थिति बदलने को तैयार नहीं होतीं । तर्क में हार जाने पर ऊपरी मन से स्वीकार करना एक बात है और उस आधार पर अपने स्वभाव, व्यवहार में परिवर्तन कर लेना दूसरी । तर्क, प्रमाणों से काम चल गया होता, तो स्वाध्याय, सत्संग की प्रचलित प्रक्रिया ने ही लोकमानस का कायाकल्प कर दिया होता । लेखनी वाणी से ही अवांछनीयता का प्रवाह कब का उलट गया होता । किन्तु यथार्थता दूसरी ही है। गुण, कर्म, स्वभाव की–मान्यता और आदत के रूप में अन्तरंग की जैसी भी संरचना बन गयी होती है, उसे रास्ता बदलने के लिये तत्पर कर लेना टेढ़ी खीर है। सदाशयता का ढोल बजाने वाले दुष्ट प्रयोजनों में निरत देखे गये हैं । कारण एक ही है–हठी अन्तराल, अभ्यस्त आदतों को बदलने के लिये जितने दबाव की जरूरत थी, उतना दबोचा नहीं गया । अनुपयोगी

को गलाने और ढालने के लिये ऊँचे तापमान की भी भट्टी जलानी पड़ती है । उससे कम में, मात्र उलट–पुलट करने भर से अशुद्ध धातुओं का परिशोधन कहाँ बन पड़ता है ? हठी अन्तराल को उत्कृष्टता की दिशा में उछालने के लिये योग और तप का साधना–क्रम अपनाये बिना काम नहीं चलता।

ऊपर से नीचे को घसीट लेने के लिये तो पृथ्वी की प्रचण्ड गुरुत्वाकर्षण शक्ति बिना किसी प्रयत्न के सदा सर्वत्र विद्यमान रहती है । पानी को गिराते ही नीचे की ओर बहने लगता है, किन्तु ऊपर चढ़ने–चढ़ाने के लिये नये साधन जुटाने पड़ते हैं और उछालने में लगने वाली शक्ति जुटाने का प्रबन्ध करना होता है अन्यथा उठने, उभरने और उछलने की बात कल्पना मात्र ही बनी रहेगी । कथा–प्रवचन सुनना, पूजा–पाठ करना अपने स्थान पर सही है और उसका सीमित लाभ भी होता है किन्तु व्यक्तित्व के अंतरंग एवं बहिरंग को यदि निकृष्टता से विरत करने और उत्कृष्टता के साथ जोड़ने का कायाकल्प करना हो, तो उस प्रत्यावर्तन के लिये साधना की ऊर्जा अनिवार्य रूप से जुटानी पड़ेगी । इसी प्रयोजन के लिये योग–तप की उभय पक्षीय साधना करनी पड़ती है । योग से विचारणा पर और तप से आदतों पर नियंत्रण प्राप्त कर सकना संभव होता है ।

माहप्रज्ञा की साधना में कई प्रकार के उपचार कृत्यों की, कर्मकाण्डों की, साधना विधानों की आवश्यकता पड़ती है । व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति और परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए साधनाओं का निर्धारण तो पृथक–पृथक ही होता है, पर सिद्धान्त एक ही रहता है । चिन्तन क्षेत्र में समाविष्ट पशु–प्रवृत्तियों के समानान्तर देव–प्रवृत्तियों के पक्ष को मल्ल–युद्ध के लिये मोर्चे पर खड़ा कर दिया जाता है और योग साधना के अन्तर्गत ऐसा सरंजाम जुटाया जाता है जिससे अनास्थाओं को हटाने और देवत्व को जिताने का मूलभूत प्रयोजन पूरा हो सके । योग में निकृष्टता से पीछा छुड़ाना और उत्कृष्टता के साथ सघन सम्बन्ध जोड़ देना–यह दोनों ही कदम उठाने पड़ते हैं । मात्र निकृष्टता से पीछा छूटना भर पर्याप्त नहीं, उत्कृष्टता का संवर्धन क्रम भी चलना चाहिये। रोग से पीछा छूटना आवश्यक तो है किन्तु पर्याप्त नहीं । चिकित्सा उपचार की ही तरह व्यायाम,

पौष्टिक आहार, उपयुक्त जलवायु का प्रबन्ध भी स्वास्थ्य संवर्धन के लिये करना पड़ता है । चिकित्सा और परिचर्या दोनों ही आवश्यक हैं । योग धारणा में उन आस्थाओं को हृदयंगम किया और अन्तराल में जमाया जाता है, जो आत्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिये अनिवार्य रूप से आवश्यक होती हैं ।

योग मन को उलटता, मरोड़ता है । गलाई, ढलाई के लिये आवश्यक श्रद्धा साहसिकता का, उमंग–उल्लास का माहौल अन्तःक्षेत्र में बनाता है । तप का भी उद्देश्य तो यही है, किन्त कार्यक्षेत्र एवं विधि–विधान में पृथकता है । तप का क्षेत्र शरीर है । शरीर पर आदतें, प्रवृत्तियाँ छाई रहती हैं । विलासिता, सुविधा की माँग इन्द्रियाँ करती रहती हैं । मन पर तृष्णा और अहंता की ललक छाई रहती है । लोभ, मोह और बड़प्पन मन का रुचिकर विषय है । शरीर को इन्द्रिय जन्य अनेकानेक भोग–उपभोगों के जायके चाहिये । इन समस्त ललक–लिप्साओं के विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर देना, हठपूर्वक पूर्वाभ्यासों का प्रतिरोध–परित्याग करना तपश्चर्या का आधारभूत प्रयोजन है ।

योग के क्षेत्र में स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन के चार व्यावहारिक एवं जप, ध्यान, प्राणायाम, मुद्रा, बन्ध, नाद, लय आदि कितनी ही प्रतिक्रियायें बताई–अपनाई जाती हैं । तप में अस्वाद उपवास, ब्रह्मचर्य शरीर सेवा में आत्म–निर्भरता, भूमि शयन, ऋतु प्रभावों का सहन, मौन आदि ऐसे क्रिया–कृत्य आते हैं, जिनमें शरीर को यह अनुभव करना पड़े कि उसे उच्चस्तरीय प्रगति के मार्ग पर चलने के लिये तितीक्षा, सहनशीलता का अभ्यास करना पड़ रहा है ।

आत्म–शोधन और आत्म–विकास की विसर्जन–ग्रहण प्रक्रिया अपनाने के माध्यम में एक महत्वपूर्ण कार्य आता है–प्रायश्चित्य विधान का । पूर्व संचित अथवा कुछ ही समय पूर्व किये गये दुष्कर्मों के कषाय–कल्मष अन्तःकरण पर एक तमसाछन्न परत की तरह कुसंस्कार बन कर जम जाते हैं । उनकी प्रतिक्रिया आत्मोत्कर्ष के प्रयत्नों को असफल बनाने में भारी अवरोध बनकर अड़ी रहती है और येनकेन प्रकारेण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है, जिससे दुष्कर्मों का दण्ड टलने न पाये । मन का उच्चाटन, साधना में अरुचि, अस्वस्थता, परिस्थितियों की प्रतिकूलता जैसे कितने ही व्यवधान साधना के दिनों में

इसलिये आते हैं कि यदि इस मार्ग में सफलता मिलने लगी तो फिर दण्ड भुगतने का अवसर कैसे मिलेगा ? साधना से जो नये सुसंस्कारों की हरियाली उगाई जाती है, उन्हे कुसंस्कारों के वन्य पशु झुण्ड बनाकर आते और देखते-देखते चर जाते हैं । सभी जानते हैं कि मैले कपड़े पर रंग नहीं चढ़ता, पथरीली जमीन में उद्यान नहीं लगता । दुष्कर्मों के घटाटोप से विकृत हुई मनोभूमि ऐसी हठीली होती है कि उस पर साधना के माध्यम से संस्कारों का रंग चढ़ाना या उपवन लगाना बन ही नहीं पड़ता । सारे प्रयास निष्फल जाते रहते हैं ।

इस अवरोध को हटाने के लिये अध्यात्म विज्ञानी पूर्वकृत पापों के प्रायश्चित को साधना-विधान का अविच्छिन्न अंग मानते हैं । इसे भूमि-शोधन कहा जाता है । कायाकल्प चिकित्सा में सर्वप्रथम नाड़ी-शोधन कराया जाता है । आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलने वालों को सर्वप्रथम यही करना होता है । ईश्वरीय दण्ड या समाज दण्ड पाने से पूर्व अपने दुष्कृत्यों का स्वयं ही दण्ड भुगत लेना, अपनी कुसंस्कारी मनोभूमि की अपने ही हाथों खुदाई, गुड़ाई करके उर्वर बनाने का कार्य प्रायश्चित कहा जाता है ।

दूसरों को, समाज को जो क्षति पहुँचाई जाती है, उसकी भरपाई करने के लिये सत्प्रवृत्तियों का संवर्धन करना, उसके लिये अपने समय साधनों को लगाकर खोदी गयी खाई को पाट देना आवश्यक है । तप-तितीक्षा के अमुक उपचार अपनाकर शारीरिक, मानसिक, आर्थिक कठिनाई का स्वेच्छापूर्वक वरण करना-यही है प्रायश्चित्त की प्रक्रिया । इसके लिये मार्गदर्शक के सम्मुख अपने स्मृति पटल पर जितने भी शरीर से या मन से किये गये पाप कर्मों का स्मरण हो, उन सभी को विस्तारपूर्वक कहना पड़ता है । इसे निष्कासन तप कहते हैं । दुराव की गाँठें खोल देने, संचित विषाक्तता को उगल देने से मन में तुरन्त हल्कापन आता है । (१) पूर्व कृत्यों पर दुःख मनाना (२) भविष्य में वैसा न करने की प्रतिज्ञा करना (३) जो किया है उसके लिये तप-तितीक्षा के रूप में दण्ड भुगतना और (४) खोदी गयी खाई को पाटने के लिये लोकोपयोगी सत्कर्म करना इन चार उपचारों से प्रायश्चित की पूर्ण प्रक्रिया सम्पन्न होती है । यह सब एकाकी स्वयं ही निर्णय नहीं कर लेना चाहिये वरन् विश्वस्त, अनुभवी, उदार और

मनीषी स्तर के किसी विशिष्ट महामानव के, मानसोपचारक के तत्वावधान में किया जाना चाहिये । इस प्रसंग में कई प्रकार के व्रत, उपवास, तीर्थ सेवन, दान–पुण्य आदि के कष्ट साध्य कृत्य करने की आवश्यकता पड़ती है । प्रायश्चित्य से हलके किये गये मन पर साधना की फसल भली प्रकार उगती और अपने निर्धारित प्रतिफल उत्पन्न करती है ।

अन्तराल के परिमार्जन एवं उन्नयन में जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है, उसे महाप्रज्ञा की अभ्यर्थना कहा जाता है । इसी का दूसरा नाम गायत्री उपासना है । निखिल ब्रह्माण्ड में जिस महाप्राण का भण्डार भरा पड़ा है, उसे अभीष्ट परिमाण में ग्रहण–धारण करने की आवश्यकता पड़ती है । यह कार्य अनुभवी तपस्वियों द्वारा निर्धारित गायत्री उपासना की पुण्य प्रक्रिया अपनाने से सम्भव हो सकता है । इस संदर्भ में जप, ध्यान और प्राणायाम की तीन पद्धतियाँ काम में लानी पड़ती हैं । किसको–किस प्रयोजन के लिये इन तीनों में से किसे किस परिमाण में, किस क्रम से अपनाना चाहिये, इसका निर्धारण अनुभवी मार्गदर्शक साधक की मनःस्थिति का पर्यवेक्षण गम्भीरतापूर्वक करने के उपरान्त ही निश्चित करते हैं । सबके लिये एक जैसा विधान तो नित्य कर्म में ही प्रयुक्त होता है । साधना का नित्य कर्म हर दिन आक्रमण करने वाले कुसंस्कारों को–वातावरण के प्रभाव को निरस्त करने के लिये किया जाता है । नित्य का स्नान, कपड़े धोना, मंजन करना, कमरे में झाड़ू लगाना, बर्तन मलना आदि जिस तरह हर दिन का सफाई का कृत्य माना जाता है, उसी तरह मनःक्षेत्र पर मलीनता की परतें न जमने देने के लिये उपासनात्मक नित्य कर्म भी करने होते हैं । विशिष्ट साधना इसके अतिरिक्त है । आत्मोन्नति के लिये उसी की अतिरिक्त तैयारी करनी पड़ती है ।

गायत्री जप की कई विधियाँ हैं । उसमें कभी–कभी कुछ अतिरिक्त बीजाक्षर भी सम्मिलित करने पड़ते हैं । ध्यान में नाभिचक्र, हृदयचक्र, और आज्ञा चक्र को त्रिविध शक्तियों का उद्गम केन्द्र कहा गया है । नाभि चक्र में प्राण की प्रखरता भरी पड़ी है, जिसे कुण्डलिनी कहते हैं । हृदय चक्र में परमतत्व के साथ एकात्म जोड़ने वाली भक्ति एवं तल्लीनता रहती है । आज्ञा चक्र के माध्यम से दिव्य

ज्ञान की, अतीन्द्रिय क्षमताओं की, दूरदर्शिता, विवेकशीलता एवं दिव्य–दृष्टि की गंगोत्री प्रवाहित होती है । शाप, वरदान देने वाले तन्तु इसी केन्द्र में केन्द्रीभूत हैं। त्रिपदा गायत्री इन्हीं तीन दिव्य धाराओं से विनिर्मित होती हैं और त्रिवेणी कहलाती हैं । जप के साथ–साथ ध्यान करने के अनेकों निर्धारण हैं, जिनमें उपरोक्त तीन चक्रों के उन्नयन को ग्रन्थि भेद कहते हैं । जीव और ब्रह्म के मध्य भेदभाव–अलगाव रखने वाले जो तीन अवरोध हैं, उन्हें इन तीन क्षेत्रों में ध्यान ऊर्जा का प्रयोग अभिचार करके प्रसुप्ति को जागृति में बदला जाता है ।

प्रकाशवान छवि–माध्यम के द्वारा किये गये ध्यान को 'बिन्दु योग' के नाम से, सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय के माध्मय से दिव्य ध्वनियों का आभास देने वाली प्रक्रिया को 'नाद योग' के नाम से जाना जाता है । तीसरा 'लय योग' है। जिसमें तादात्म्य, भाव–विभोर, आनन्द मग्न होने की समाधि साधना की जाती है । सहस्रार से सम्बन्धित खेचरी मुद्रा का यही स्वरूप है । शांभवी मुद्रा मूलाधार को प्रभावित करती है । हृदय चक्र में ज्योति मुद्रा का–अमृत कलश का ध्यान किया जाता है । यह सभी प्रयोग गायत्री उपासना के अन्तर्गत आते हैं और साधक की सतोगुण प्रधान, रजोगुण प्रधान, तमोगुण प्रधान प्रकृति का पता चलने के उपरान्त निर्धारित किये जाते हैं। नित्य कर्म की साधना तो थोड़े–बहुत हेर–फेर के साथ सभी के लिये एक जैसी है किन्तु विशेष साधनायें उसी प्रकार की हैं, जैसी कि पहलवानों को अखाड़े का आश्रय लेकर उस्तादों की देख–रेख में विशेष प्रकार की कसरतों के माध्यम से करनी पड़ती है । दंगल में कुश्ती पछाड़ने के लिये यही प्रक्रिया अपनानी पड़ती है । इस स्तर तक पहुँचने के लिये मात्र टहलने, हल्की–फुल्की कसरतों से काम नहीं चलता ।

जीवात्मा के तीन शरीर हैं–स्थूल, सूक्ष्म और कारण । इन तीनों को परिष्कृत करने के लिये क्रमशः हठयोग की, राजयोग की और लययोग की साधना करनी पड़ती है । उनके अनेकों भेद–उपभेद और सम्मिश्रण हैं ।

औषधि विज्ञान की तरह साधना विज्ञान का भी एक स्वतन्त्र शास्त्र है । चिकित्सा उपचार में रोगियों की स्थिति का विशेष रूप से

ध्यान रखना होता है, उसी प्रकार श्रेयार्थियों के लिये भी अनुभवी मार्गदर्शक अमुक साधना अथवा कई योग प्रयोजनों का सम्मिश्रण करके ऐसा निर्धारण करते हैं, जो अभावों की पूर्ति एवं उलझनों से निवृत्ति करा सकने में समर्थ हो सके । मेरुदण्ड में प्रवाहित होने वाली त्रिविध शक्ति धारायें इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के नाम से जानी जाती हैं । किसे किस शरीर को प्रधानता देनी है, किसे किस क्षेत्र में प्रवेश करना है, वे इन्हीं तीनों के साथ अपना तादात्म्य बिठाते हैं । इन्हीं तीनों को तीन लोकों में प्रवेश पाने के तीन राजमार्ग कहते हैं । भूः लोक इड़ा से, भुवः लोक पिंगला से और स्वः लोक सुषुम्ना से सम्बन्धित माना गया है । इन तीनों का समग्र स्वरूप त्रिपदा गायत्री के रूप में बनता है ।

गायत्री मन्त्र प्रधान है । उसमें शब्द शक्ति का अवलम्बन लेकर तीन शरीरों में सन्निहित तीन शक्ति स्रोतों के साथ सम्बन्ध बनाया जाता है । निखिल ब्रह्माण्ड को तीन लोकों के रूप में विभाजित किया गया है । इनके साथ सम्बन्ध जोड़ने में शब्द शक्ति का आश्रय लिया जा सकता है । मन्त्रयोग के समस्त उपचार शब्द शक्ति पर आधारित हैं । विज्ञान के छात्र जानते हैं कि ऊर्जा के अनेक विभाजनों में ताप, ध्वनि और प्रकाश की तरंगों को प्रमुखता दी गयी है । इन तीन का रूपान्तर विभिन्न स्तर के परमाणुओं और जीव कोशों में होता रहता है । पदार्थ जगत में पाँच तत्वों का और चेतन जगत में पाँच प्राणों का आधिपत्य है । इन दोनों ही क्षेत्रों में गतिविधियाँ जिस ऊर्जा के बलबूते चलती रहती हैं, उनमें से एक अति महत्वपूर्ण है–ध्वनि । उसी को अध्यात्म तत्वज्ञानी 'ॐ' कार के रूप में अधिग्रहण करते हैं । 'ॐ' कार से भूः, भुवः, स्वः तीन व्याहृतियाँ और इनमें से प्रत्येक से तीन–तीन शब्द निःसृत होने पर नौ शब्द वाली–चौबीस अक्षरों वाली गायत्री का महामन्त्र बन जाता है । सामान्यतया इसे हंसवाहिनी, आदि शक्ति के रूप में–सविता के भर्ग 'ब्रह्मवर्चस्' में तथा महाप्रज्ञा की ध्यान धारणा में अपनाया और हृदयंगम किया जाता है । इतने पर भी यह मान कर चलना चाहिये कि गायत्री का तत्वज्ञान और प्रयोग विधान जिस धारा से प्रभावित होता है–वह ब्रह्म विद्या 'शब्द' परक है । मन्त्र योग का रहस्य यही है । उसकी समस्त विधि शब्द शास्त्र के अन्तर्गत समझी–समझाई जा सकती है ।

जड़ और चेतन के मध्य में दोनों को जोड़ने वाली शक्ति का नाम शब्द है । वह पदार्थों पर अपनी प्रभाव प्रतिक्रिया का तत्काल परिचय देती है । प्रतिध्वनि के रूप में, ईथर में बहने वाले प्रवाह के रूप में उसकी सामर्थ्य अपना परिचय देती रहती है । ठोकर लगने पर शब्द की उत्पत्ति यह बताती है कि पदार्थ जगत में होने वाली हलचलें अपनी सूचना व्यापक क्षेत्र में भेजती हैं और वे शब्द परक होती हैं । ठीक इसी प्रकार व्यक्ति की अन्तरंग और बहिरंग हलचलों की जानकारी प्राप्त करने का सुनिश्चित तरीका शब्द है। रक्त संचार, धड़कन आदि में होने वाली ध्वनि को समझते हुए स्वास्थ्य संकट का पता लगाते हैं । चलने-फिरने से लेकर करवट बदलने और साँस लेने जैसी सामान्य गतिविधियों का स्वरूप एवं स्तर उस आधार पर होने वाली ध्वनि के सहारे जाना जा सकता है । ब्रह्माण्ड भर की गतिविधियों को प्रकाश की तरह ध्वनि संकेतों से भी जाना समझा जाता है। अन्तर्ग्रही परिस्थितियों को इसी माध्यम से जाना जाता है। सभी प्राणी अपनी मनःस्थिति का परिचय दूसरों को देने के लिये वाणी का ही प्रयोग करते हैं । मनुष्य तो इस विद्या में एक प्रकार से प्रवीण-पारंगत ही बन चुका है।

आत्मा और परमात्मा के बीच सम्बन्ध बनाने के लिये साधनात्मक प्रयोजनों में शब्द शक्ति का ही प्रयोग करना पड़ता है। जप, स्तवन, कथा, मन्त्रोच्चार, पाठ, कीर्तन, प्रवचन, आशीर्वाद, अभिचार आदि में शब्द का ही किसी न किसी रूप में प्रयोग होता है । नादयोग के माध्यम से ईश्वरीय सन्देश सुनने एवं अदृश्य जगत में चल रही हलचलों की जानकारी प्राप्त करने की बात बनती है । विज्ञान ने प्रकृति के अन्तराल से ऐसी ध्वनि तरंगें ढूँढ़ निकाली हैं, जो अब तक के समस्त आविष्कारों की तुलना में अधिक सामर्थ्यवान शक्ति स्रोत सिद्ध होंगी । चेतना जगत तथा पदार्थ जगत के दोनों ही क्षेत्रों में उच्चस्तरीय अनुकूलतायें उत्पन्न करने तथा अभीष्ट उपलब्धियाँ प्राप्त करने के लिये शब्द शक्ति का जो विशेष विनियोग उपचार किया जाता है उसी को मंत्र कहते हैं । आज यंत्रों की धूम है । उनकी उपयोगिता तथा समर्थता का परिचय सभी को है । भूतकाल में ठीक इसी तरह मन्त्र शक्ति का प्रयोग होता रहा है और उसकी प्रभाव शक्ति

आज के अति महत्वपूर्ण यन्त्रों की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं थी।

मन्त्र विद्या को–उच्चस्तरीय शब्द–विज्ञान कह सकते हैं । मन्त्रों के अक्षरों का गठन–गुन्थन आत्म–विज्ञान के पारंगतों ने इस प्रकार किया है कि उनसे साधक की काया में सन्निहित अनेक रहस्य भरे शक्ति संस्थानों का उभार अभिवर्धन होता चला जाता है। गायत्री महाविद्या में उच्चस्तरीय रहस्यमय शक्ति का ऐसा समावेश है जिसका सिद्धान्त एवं प्रयोग करने वाला सिद्ध–पुरुष स्तर की चमत्कारी सिद्धियों का परिचय दे सकता है। बहुमूल्य यन्त्रों को भी ईंधन की जरूरत पड़ती है। दोनों के सहयोग से ही वे अपना काम कर सकने में समर्थ होते हैं। मानवी काया के अन्तराल में अंग–अवयवों, जीव–कोषों, हारमोनों आदि की संरचना तो अद्भुत है ही। इसके अतिरिक्त उसका विद्युत संस्थान इतना रहस्यमय है कि उससे हल्की और पैनी सामर्थ्य इस सृष्टि में अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती। इस यन्त्र का रचयिता सर्व–समर्थ परमेश्वर है। उसने अपनी कलाकारिता की इस निर्माण में अति कर दी है। यहाँ तक कि जो कुछ भी उसकी स्वयं की सामर्थ्य है–उसे भी बीज रूप से इसी भाण्डागार में जहाँ–तहाँ छिपा कर रख दिया है। सामान्य क्रियाकलाप तो अन्न, जल तथा वायु के माध्यम से चलता रहता है, पर जब उसकी रहस्यमय शक्तियों की व्यक्ति विशेष के लिये, कारण विशेष के लिये, वातावरण में उलट–पुलट करने के लिये ब्रह्माण्डीय शक्तियों के साथ सम्पर्क साधने की आवश्यकता पड़ती है तो अन्य प्रकार के ईंधन की आवश्यकता पड़ती है। सभी जानते हैं कि आयल इंजिन सस्ते 'क्रूड आइल' से चलते रहते हैं किन्तु वायुयानों के इन्जनों को अधिक सामर्थ्यवान पेट्रोल चाहिये। मानवी सत्ता को ऊँचे दर्जे के रहस्यमय पराक्रम करके अदृश्य जगत में कुछ विशिष्ट प्रयोजन पूरे करने होते हैं, तो ऊर्जा के अतिरिक्त स्रोत उपलब्ध करने होते हैं। यह शब्द शक्ति ही है जो वैसी स्थिति उत्पन्न कर सकती है जैसी कि दिव्य मानवों को दिव्य प्रयोजनों के लिये अभीष्ट होती है।

मन्त्र विद्या द्वारा शब्द शक्ति के माध्यम से उत्पन्न की गयी ऊर्जा इतनी प्रचण्ड होती है कि उसके चमत्कार असामान्य स्तर के होते

हैं । इस सन्दर्भ में शाप-वरदानों का लम्बा इतिहास पढ़कर तथ्यों को जाना जा सकता है । मन्त्र साधना द्वारा निजी जीवन के भौतिक एवं आत्मिक पक्षों में असाधारण प्रगति सम्भव हो सकती है । इतना ही नहीं दूसरों का भी उस माध्यम से हित-साधन हो सकता है । नियति के रहस्यों को भी उस आधार पर जाना जा सकता है और आवश्यकतानुसार विश्व-प्रवाह का अदृश्य वातावरण में हेर-फेरकर सकना भी सम्भव हो सकता है ।

मन्त्र विद्या की महत्ता सभी देशों और सभी धर्मों में मान्यता प्राप्त करती रही है । यों इस संदर्भ में धूर्तता भी कम नहीं बरती गयी और ठगने तथा भ्रम बिखेरने में भी इस विद्या की आड़ में कम अहित नहीं हुआ । इतने पर भी तथ्य तो अपने स्थान पर यथावत् ही रहेंगे । वेद, कुरान, बाइबिल, जिन्दावस्ता आदि की ऋचायें अभी भी ज्ञान और विज्ञान दोनों प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त होती हैं ।

गायत्री मन्त्र एक शब्द गुच्छक है । उसका प्रयोग जप, उच्चारण के माध्यम से सीमित प्रयोजनों के लिये होता है । किन्तु गायत्री विद्या एक समग्र शास्त्र है। उसे अध्यात्म-विज्ञान के क्षेत्र में अनुपम एवं अद्भुत कह सकते हैं । गायत्री को ब्रह्मवर्चस्र भी कहते हैं । 'ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म विद्या, आत्म विज्ञान, तत्व दर्शन । 'वर्चस्' अर्थात् आन्तरिक ओजस-तेजस । प्रतिभा-प्रखरता । समर्थता- विशिष्टता । संक्षेप में इन्हें उच्चस्तरीय दृष्टिकोण भाव-संवेदन एवं महान प्रयोजनों में काम आने वाला साहसिक पराक्रम भी कह सकते हैं । यही है वे विभूतियाँ जिन्हें उपलब्ध करके मनुष्य सामान्य योग्यता एवं परिस्थिति के रहते हुए भी आत्मबल के सहारे ऊँचा उठता और आगे बढ़ता चला जाता है ।

विभिन्न साधनाओं से मिलने वाली सिद्धियों में से सभी को एक गायत्री विद्या का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है । इस महाविज्ञान का तत्व-ज्ञान और विधि-विधान ऐसा है, जिसे जानने एवं कमाने के लिये जितनी गहराई तक उतारा जा सके, उत्तम है ।

अध्यात्म उपचारों का तत्वज्ञान

आत्म शक्ति संसार की सबसे बड़ी शक्ति है । भौतिक सम्पदा एवं सामर्थ्य के सहारे मनुष्य को मात्र निर्वाह तथा सुविधा की साधन सामग्री प्राप्त होती है, जबकि आत्मशक्ति प्रसुप्त चेतना को जगाती, अतीन्द्रिय क्षमता को उभारती तथा मनुष्य में देवत्व का उदय-उद्‌भव कर दिखाती है । महामानव, ऋषि एवं देवदूत बनने का अवसर नर-पशुओं को इसी आधार पर उपलब्ध होता है । अपना और दूसरों का भला करने की एक सीमित सामर्थ्य ही बुद्धि वैभव में पायी जाती है, किन्तु आत्मबल के सहारे ऊँचा उठने, आगे बढ़ने की ऐसी प्रखरता प्राप्त की जा सकती है, जिसके सहारे अपना ही नहीं अन्य असंख्यों का भी उत्थान, अभ्युदय संभव हो सके । शरीर और प्राण के मध्य जो अन्तर है, वही भौतिक सम्पदाओं और आत्मिक विभूतियों के बीच पाया जाता है । साधन सम्पन्न सुख भोगते हैं, किन्तु आत्मबल से समर्थ व्यक्ति इसी जीवन में स्वर्ग मुक्ति का परमानन्द प्राप्त करता और परब्रह्म के साथ तादात्म्यता का जीवन लक्ष्य प्राप्त करता है ।

आत्म शक्ति प्राप्त करने के लिये जो साधना करनी पड़ती है उसके दो पक्ष हैं-एक क्रिया-काण्ड-भजन-पूजन का उपचार । दूसरा ब्रह्माण्डीय चेतना-उत्कृष्टता-देवात्मा के साथ योग-एकात्म्य । उपचारों में जप, यजन, व्रत, उपवास जैसे शरीर साध्य कृत्य करने पड़ते हैं । योग भावना प्रधान है, उसमें समर्पण स्तर की भाव श्रद्धा जगानी पड़ती है । भक्ति का, प्रेम का अभ्यास करना और स्वभाव बनाना पड़ता है । आदर्शों के प्रति समर्पित व्यक्तित्व को योगी कहते हैं, जबकि मात्र कर्मकाण्डों में ही निरत रहने वाले भाव शून्यों को अधिक से अधिक पुजारी की संज्ञा दी जा सकती है । उपचारों को तीर और योग एकात्म्य को धनुष कहते हैं । तीर उतनी ही दूर जाता, उतनी ही चोट करता है, जितना कि प्रत्यंचा का खिचाव उसे प्रेरणा देता है । धनुष के बिना तीर की कोई चमत्कृति नहीं, किन्तु अकेला धनुष किसी छोटे से कंकड़ को फेंककर लगभग तीर लगने जैसा परिणाम उत्पन्न

कर सकता है । उपचार का कोई महत्त्व न हो, सो बात नहीं । लेखक को कलम, दर्जी को सुई, चित्रकार को तूलिका, वादक को वीणा जैसे उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है । इतने पर ही उनकी अन्तःचेतना का प्रखर प्रवीण होना आवश्यक है अन्यथा वे उपकरण हाथ में रहते हुए भी किसी सफलता का श्रेय प्रदान न कर सकेंगे । पूजा परक उपचारों के सम्बन्ध में भी यही बात है । वे अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं । उनकी उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा । हथौड़ा के बिना लुहार, बाजे के बिना वादक, अपने कौशल का परिचय कैसे देगा ? उस्तरा न हो तो नाई किस प्रकार हजामत बनाये ?

बीज की महत्ता सर्व विदित है । उसके बिना न खेती होती है और न बगीचा लगता है । इतने पर भी मात्र बीज को ही सब कुछ मान बैठने वाले न फसल काट सकते हैं और न फल सम्पदा के सहारे धनवान बन सकते हैं । बीज बोने की तरह ही खाद पानी का प्रबन्ध करना भी आवश्यक है । बीज को उपासना उपचार कह सकते हैं, किन्तु उसे लहलहाते पौधे का रूप देने के लिये भाव श्रद्धा का खाद-पानी अनिवार्यतः चाहिये अन्यथा बीज बोने में जो परिश्रम एवं धन खर्चा गया है, वह भी बेकार जायेगा । यहाँ उन तथ्यों का रहस्योद्घाटन किया जा रहा है, जिन पर साधना की सफलता-असफलता का केन्द्र विन्दु निर्धारित है ।

'साधना की सिद्धि' के रूप में परिणति होते देखने के इच्छुक प्रत्येक विचाराशील को जहाँ निर्धारित पूजा-उपचार नियमित रूप से करने चाहिये वहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि इष्ट के, लक्ष्य के प्रति श्रद्धा का क्रमिक विकास हो रहा है या नहीं ? प्राण विहीन शरीर को लाश कहते हैं और आस्था रहित पूजा उपक्रम को बिडम्बना । दोनों का बाह्य स्वरूप तो सही दीखता है, पर आन्तरिक खोखलेपन के कारण उनके सहारे किसी उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती । मृतक के काय-कलेवर से किसी को क्या कुछ मिल सकेगा ? इसी प्रकार भाव श्रृद्धा से रहित पूजा के परिश्रम से इतना ही लाभ हो सकता है कि वह समय किसी दुष्ट कर्म में न लगकर सत्प्रयोजन के अभ्यास में व्यतीत हुआ । इतने पर भी उससे किसी चमत्कारी प्रतिफल की आशा अपेक्षा नहीं की जा सकती । प्रत्येक

तत्वान्वेषी साधक को जितना परिश्रम उपासना उपचार पर करना होता है, उससे कहीं अधिक प्रयास अपनी भाव चेतना में उत्कृष्टता का समावेश करने के लिये करना होता है। यह मरुस्थल को सुरम्य उद्यान में बदलने जैसा परम पुरुषार्थ है।

कई भ्रान्तिग्रस्त व्यक्ति मात्र पूजा–उपचार के कर्म–काण्डों को ही ऋद्धि–सिद्धि का भाण्डागार मान बैठते हैं और बाजीगरों द्वारा तुर्त–फुर्त करतब–कौतूहल दिखाये जाने की तरह अपने तन्त्र–मन्त्र से आकाश–पाताल जैसी कल्पनायें करने लगते हैं। वे पूरी नहीं होतीं, तो नास्तिक जैसा आक्रोश प्रकट करते और उपासना विज्ञान पर चित्र–विचित्र लांछन लगाते देखे जाते हैं। सभी जानते हैं कि जादूगरी मात्र छलावा है। मिट्टी से रुपया बनाना, हथेली पर सरसों जमाना विज्ञान के सामान्य नियमों से सर्वथा विपरीत है। मिट्टी से रुपया बन तो सकता है, पर उसके लिये किसान, कुम्हार या ईंट पकाने वाले जैसी सुनियोजित प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है। पूजा–उपचार के जादूगरी जैसे परिणाम देखने के लिये आतुर व्यक्ति बालकों जैसी आशा–निराशा के झूले में झूलते रहते हैं। अध्यात्म वस्तुतः अन्तःचेतना के परिष्कार का एक सुनियोजित विज्ञान है। जो आत्मसत्ता से जिस स्तर की उत्कृष्टता का समावेश कर पाता है वह उतना ही पवित्र और प्रखर होता जाता है। सभी जानते हैं कि व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में हाथ डालते हैं, उसी में सफलता पाते हैं। जबकि मंत्र–तंत्र के बाजीगर व्यक्तित्व के सुधार परिष्कार की ओर नजर नहीं डालते और मात्र जादुई क्रिया–कृत्यों के सहारे उन सफलताओं को तत्काल उपलब्ध करने की बात सोचते हैं, जो अभीष्ट योग्यता एवं तत्परता के मूल्य पर ही खरीदी जा सकती हैं। बिना समुचित मूल्य चुकाये इस संसार में किसी को कोई चिरस्थाई सफलता नहीं मिल सकती। उचक्के–उठाईगीरे ही जहाँ–तहाँ सेंध मारते, जेब काटते और तुर्त–फुर्त अमीरी झटक लेने का सपना देखते और हथकण्डे अपनाते हैं। ऐसी सफलतायें अन्ततः उन्हें मँहगी पड़ती हैं। सस्ते पूजा–पाठ भर से प्रखर पुरुषार्थ के बदले कमाई जाने वाली विभूतियों को प्राप्त करने के लिये ताना–बाना बुनने वालों को भी इसी श्रेणी में गिना जा सकता है।

इस दिनों हर क्षेत्र में भ्रान्तियों का बाहुल्य है, अध्यात्म का क्षेत्र तो उनसे बुरी तरह भर गया है। आत्म परिष्कार के, व्यक्तित्व निर्माण के उच्चस्तरीय विज्ञान की आज जो दुर्गति हो रही है, उसे देखकर भारी दुःख होता है। उपचार कृत्यों के गुण–दोषों पर विचार पीछे किया जाना चाहिये। पहले यह देखा जाना चाहिये कि अध्यात्म के नाम पर जो मान्यतायें प्रचलित हैं, वे कहाँ तक सत्य और तथ्य पर निर्धारित हैं। आज उस आत्म परिष्कार की पुनीत प्रक्रिया को पदच्युत करके बाजीगरी का, उठाईगीरी का सिद्धान्त मान्यता प्राप्त कर चुका है। हर व्यक्ति चित्र–विचित्र कर्मकाण्डों से जादू भरे चमत्कार और टोकरा भरे आकाश कुसुमों के उपहार प्राप्त करना चाहता है। यदि उनकी मान्यता सही होती, तो फिर इस विश्व व्यवस्था में कर्मफल, योग्यता एवं तत्परता के लिये कोई विशेष स्थान शेष न रह जायेगा। तब महती सफलतायें जादूगरों की पिटारी से ही बिखरती पाई जायेंगी।

होना यह चाहिये कि अध्यात्म तत्व ज्ञान का प्रत्येक विद्यार्थी पूजा–उपचार और आत्म–परिष्कार के उभय पक्षीय प्रयोजनों को साथ–साथ लेकर चले। संचित कुसंस्कारों के उन्मूलन और सत्प्रवृत्ति संवर्धन के लिये अपने अनगढ़ स्वभाव अभ्यास को सुधारे, दबाये। यह तपश्चर्या का व्रतशीलता का पक्ष है। इसके अतिरिक्त दूसरा बहिरंग पक्ष है, जिसमें पूजा–उपचारों के सहारे अन्तःचेतना को व्यायाम उपचार की तरह साधने–संजोने एवं उछालने का अभ्यास–साधना का समूचा प्रकरण जीवन के अन्तरंग और बहिरंग पक्षों को उत्कृष्टता सम्पन्न बनाने के लिये है। इस दिशा में जो जितना आगे बढ़ेगा उसे उसी अनुपात में वजनदार व्यक्तित्व से सुसम्पन्न होने का गौरव मिलेगा। यही है वह आन्तरिक वैभव जिसके सहारे आत्मबल के धनी अपने को महामानव स्तर का बनाते हैं और अपने सम्पर्क क्षेत्रों को चन्दन वृक्ष की तरह गौरवास्पद सुरभित बनाते हैं।

अध्यात्म निश्चय ही जादू भरा है। संसार के महामानवों के व्यक्तित्व और कर्तृत्व का इतिहास एवं अनुदान ऐसा गौरवशाली है जिस पर हजारों–लाखों जादूगरों को निछावर किया जा सकता है। वैसी ही महत्वाकांक्षा हर सच्चे अध्यात्मवेत्ता को संजोनी चाहिये। जादू भरे

कौतूहलों को देखने की बचकानी ललक को कूड़े के ढेर में बुहार कर फेंक देना चाहिये साथ ही वह आत्म तेजस् उभरना चाहिये जिसके सहारे अभ्यस्त कुसंस्कारों में, स्वभाव एवं आदतों में कायाकल्प जैसे परिवर्तन कर सकना शक्य हो सके ।

आत्मीयता का विस्तार ही भक्तियोग है । इसके अभ्यास में सर्वत्र अपनापन दीखता है। उदार सेवा-सहायता करने को मन करता है। आस्थायें उत्कृष्टता के साथ जुड़ी रहने से अन्तरंग में जो उल्लास उमंगता रहता है, उसी को अमृत, आत्मदर्शन, ब्रह्म साक्षात्कार आदि का नाम तत्वदर्शियों ने दिया है । जीवन मुक्तों की, देवदूतों की ऐसी ही अन्तःस्थिति होती है ।

ज्ञानयोग उच्चस्तरीय दूरदर्शिता का नाम है । आम आदमी तात्कालिक लाभ को ही सब कुछ मान बैठते हैं और भविष्य की आवश्यकताओं-सम्भावनाओं पर तनिक भी विचार नहीं करते । यही कारण है कि उनकी बुद्धि विलास, संचय एवं अपव्यय के ताने-बाने बुनती रहती है । जिन्दगी इस व्यामोह में कट जाती है और जब परिणामों के परिपक्व होने का अवसर सामने आता है तो मात्र पछतावा ही शेष रहता है । ज्ञान योग अन्धी भेड़ों जैसे लोक प्रवाह को अमान्य ठहराकर अपनी स्वतंत्र विवेक बुद्धि का उपयोग करता है और नर-पशुओं की तरह नष्ट-भ्रष्ट होने वाले जीवन को नये निर्धारणों के आधार पर देवोपम गतिविधियों के साथ जोड़ देने का पराक्रम प्रकट करता है ।

कर्मयोगी अपनी क्रिया शक्ति को पेट प्रजनन में, तृष्णा अहंता की पूर्ति से ऊपर उठाकर उसे आदर्शवादी क्रिया-कलापों में नियोजित करता है । सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धान्त ही कर्मयोग का पर्यायवाचक है, उच्चस्तरीय जीवन जीने के लिये संयम बरतना पड़ेगा । आवययकता और इच्छायें घटाकर देशवासियों के औसत स्तर तक नीची लानी पड़ेंगी । इतना बन पड़ने पर ही कोई अपने श्रम, समय, मनोयोग एवं वैभव की बचत करके उच्च विचारों को साकार करने वाले परमार्थ में नियोजित कर सकता है । कर्मयोगी की आन्तरिक स्थिति यही होती है । उसके दृष्टिकोण, रुझान एवं प्रयास में अनिवार्यतः आदर्शवादिता घुसती तथा बढ़ती चली जाती है ।

कर्मयोगी महामानव बनते हैं । ज्ञानयोगी ऋषि कहलाते हैं और भक्तियोगी जीवन मुक्त अवतारी देवदूतों में गिने जाते हैं । मनुष्य के तीन शरीर हैं । स्थूल शरीर को कर्मयोग से, सूक्ष्म शरीर को ज्ञानयोग से एवं कारण शरीर को भक्तियोग से परिष्कृत करते हुए परम लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है । यही आत्मिक प्रगति का राजमार्ग है । इसी पर चलते हुए सामान्यों को असामान्य बनने का और युग प्रवाह उलटने से लेकर समूचे वातावरण में उत्कृष्टता भर देने का सुअवसर मिलता है । उनकी गतिविधियों की परिणतियों को देखते हुए हर विवेकवान की आँखें उन्हें चमत्कारी सिद्ध पुरुष कहतीं और शतशत नमन करती देखी जाती हैं । बचकाने जादू जैसे दृश्य देखने कौतूहल दिखाने के लिये ललकते रहते हैं, पर परिपक्व प्रज्ञा वाले उस ओर नजर उठाकर भी नहीं देखते । उन्हें अपने व्यक्तित्व के परिष्कार में–दृष्टिकोण, रुझान एवं कर्तृत्व की उत्कृष्टता में ऐसे चमत्कारों की भरमार दीखती है, जिसके लिये सामान्य नर–पामर प्रायः तरसते–तरसते ही मरते हैं ।

हर पूजा–उपचार का एक तत्वदर्शन है, उस क्रिया के माध्यम से कुछ सोचना, सीखना पड़ता है और तदनुरूप ढलने के लिये इष्टदेव के प्रति आत्म–समर्पण का अभ्यास करना होता है । वस्तुतः विभिन्न साधना उपचारों के पीछे हुआ प्रेरणा प्रवाह ही दिव्य शक्ति की प्रचण्डता से ओत–प्रोत प्राण–पुंज है । यदि उसे न समझा जाये और न हृदयंगम किया जाये तो फिर इतना ही समझना चाहिये कि मात्र क्रिया–कृत्यों तक सीमित श्रम उपचार से कोई वैसा बड़ा प्रयोजन सिद्ध न हो सकेगा जैसी कि आमतौर से अपेक्षा की जाती है किन्तु यदि कर्मकाण्डों में सन्निहित भाव निष्ठा को सच्चे अर्थों में हृदयंगम किया गया, तदनुरूप जीवनचर्या को ढाला गया तो निश्चित रूप से अन्तःचेतना में देवत्व की उमंगें उभरेंगी और व्यक्तित्व को उच्चस्तरीय बनाने के साथ–साथ अद्भुत कार्य कर सकने में समर्थ सिद्ध पुरुष भी बना देगी ।

देव शक्तियों के स्वरूप, स्तर एवं क्रियाकलाप के सम्बन्ध में इस तथ्य को जितनी जल्दी समझा जा सके, उतना ही उत्तम है कि वे चमचागीरी, जीभ की लपालपी, छोटे–मोटे पुष्प–दीप जैसे उपहारों से

प्रभावित होकर किसी को अपना भक्त मान बैठने और उसकी उचित–अनुचित कामनाओं की तत्काल पूर्ति में लग जाने वाले नहीं हैं। इस आधार पर उन्हें फुसलाने–बहलाने की तिकड़मबाजी को ही यदि कोई पूजा–साधना समझता हो, तो इस भ्रम–जंजाल में फँसने के उपरान्त निराश होने, गाली देने की अपेक्षा यही अच्छा है कि बिना किसी भजन–पूजन के ही काम चलाया जाय। पुरुषार्थ के आधार पर सफलता पाने में नीतिमत्ता भी है और वास्तविकता भी। छुटपुट जादुई उपचारों के उल्टे उस्तरे से देवताओं की हजामत बनाने के धन्धे में हाथ डालने की अपेक्षा उसे न करना ही अधिक समझदारी की बात है।

देवताओं को पूजा बटोरने और वरदान बाँटते रहने वाला, अन्धेर नगरी का बेबूझ राजा नहीं मान बैठना चाहिये और न उनसे पात्रता का अभाव रहने पर भी मनमाने अनुग्रह पाने की आशा ही करनी चाहिये। दैवी शक्तियाँ देती तो बहुत कुछ हैं, पर देने से पूर्व हजार बार यह ठोंकती–बजाती हैं कि माँगने वाला आखिर किस स्तर का आदमी है? अनुदानों का सदुपयोग करने की उसकी प्रमाणिकता क्या है? जो माँगा जा रहा है वह किस प्रयोजन के लिये है? इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर मिलने पर ही देवता किसी को अपना अनुग्रह देते देखे गये हैं।

पेड़ों की आकर्षण शक्ति आकाश में उड़ने वाले बादलों को धरती पर उतरने और बरसने के लिये विवश करती है। साधक की चरित्र निष्ठा और समाज निष्ठा का समन्वय ही ऐसी आकर्षण शक्ति का उदय करता है, जो दैवी अनुदानों को साधक पर बरसाने के लिये विवश कर सके। अस्तु मनुहार के लोभ लालच में दैवी शक्तियों को बहेलियों और मल्लाहों की तरह फँसाने का विचार छोड़कर अपना प्रयास यह करना चाहिये कि अपनी पात्रता किस प्रकार इस स्तर तक विकसित की जाय कि दैवी शक्तियों को बादलों की तरह बरसने के लिये विवश होना पड़े। बर्तन जितने बड़े होते हैं, उतना ही पानी उनमें भरा जा सकता है। विपुल जलाशय भी बर्तन की परिधि से अधिक पानी दे सकने में असमर्थ रहते हैं। दैवी शक्तियाँ भी ऐसे ही अनुबन्धों में बँधी हुई हैं। वरदान माँगने की अपेक्षा स्थिति ऐसी

बनानी चाहिये कि दूसरों को वरदान दे सकना अपने लिये भी सम्भव हो सके । वस्तुतः आशीर्वाद देना उदारमना सन्तों का ही काम है । पिछड़ों को उठाने, अशक्तों की सहायता करने और विकासोन्मुखों को छात्रवृत्ति देने जैसे उदार प्रयोजन सन्तों को ही पूरे करने पड़ते हैं । भगवान् तो एक व्यवस्था मात्र है। जो आग या बिजली की तरह मात्र सदुपयोग की शर्त पर ही अनुग्रह करता है। दुरुपयोग की कुमार्गगामिता का दण्ड देने में ईश्वर भी नहीं चूकता । इस संदर्भ में उसे भक्त-अभक्त में कोई अन्तर करते नहीं पाया जाता । नौकरी पाने के लिये अर्जी देनी पड़ती है और मंजूरी भी उसी पर मिलती है, पर यह ध्यान देने की बात है कि इस बीच आवेदनकर्त्ता को परीक्षा एवं प्रतियोगिता से होकर गुजरना पड़ता है, ईश्वर प्रार्थना से प्रभावित होकर तुरन्त अनुकम्पा नहीं करने लगता वरन् यह भी देखता है कि प्रार्थना करने वाला अभीष्ट पात्रता एवं प्रामाणिकता अर्जित किये हुए है या नहीं ?

उपासना का वास्तविक प्रयोजन अपने मन मन्दिर को बुहार कर इस योग्य बनाना है कि उस स्वच्छता से संतुष्ट होकर ब्राह्मी शक्ति उस क्षेत्र में प्रवेश करने के लिये सहमत हो सके । शरीर को नित्य स्नान कराते हैं, कपड़े नित्य धोते हैं, दाँतों का मंजन नित्य करना होता है, कमरे में झाड़ू नित्य लगाते हैं, इस दैनिक स्वच्छता का प्रयोजन इतना ही है कि मलीनता के कारण उत्पन्न होने वाली दुर्गन्ध, रुग्णता एवं कुरुचि से बचा जा सके । इसमें कोई अतिरिक्त चमत्कार नहीं होता । स्वच्छता अपनाने से चित्त हल्का होता है । सभ्य लोगों की पंक्ति में सम्मानपूर्वक बैठने का मार्ग खुलता है और मलीनताजन्य बीमारियों से सहज ही बचाव होता रहता है । इतने से संतुष्ट न होकर कोई स्नान, मंजन आदि से ऋद्धि-सिद्धियों के वरदान-चमत्कार चाहे तो उसे बाल-बुद्धि-बचकाना ही कहा जायेगा । उपासना के फलितार्थों के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टिकोण से सोचा जाना चाहिये ।

ईश्वर आदर्शों का समुच्चय है। उपासना का अर्थ होता है-समीप बैठना । समीप बैठना वैसा-जैसा कि गीली लकड़ी आग के समीप पहुँचकर अपना गीलापन समाप्त कर लेती है और आग की उष्मा को

अपने में धारण करके सूखती चली जाती है । अधिक निकट पहुँचने पर स्वयं आग बन जाती है । उपासना का वास्तविक स्वरूप यही है । महानता की समस्त उत्कृष्टताओं के पुंज परमेश्वर का सान्निध्य प्राप्त करके साधक उसकी गुण-गरिमा को क्रमशः अपने में अधिकाधिक मात्रा में भरता चला जाये । यही दैवी विभूतियाँ व्यक्तित्व को श्रेष्ठ, शालीन, उदार और उदात्त बनाती हैं । कहना न होगा कि व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति एक प्रकार से सिद्ध पुरुष ही होता है । उसका मूल्य हर क्षेत्र में सामान्य नर-पशुओं की तुलना में हजारों-लाखों गुना अधिक आँका जाता है । तदनुरूप उस पर चारों ओर से सम्मान-सहयोग भी बरसता है । जो इस स्तर का लाभ पा सकेगा उसे स्वभावतः उच्चस्तरीय सफलतायें भी मिलती चली जायेंगी । ऐसे लोग ही हर क्षेत्र में श्रेय पाते और प्रगति के उच्च शिखर पर जा पहुँचते हैं । इसी सुखद प्रतिफल को यदि कोई चाहे, तो उपासना का चमत्कार कह सकता है ।

ईश्वर निष्पक्ष न्यायकारी है, उसके दरबार में किसी का मूल्य उसकी प्रामाणिकता एवं परमार्थ परायणता के आधार पर ही आंका जाता है । न उसे प्रशंसा की आवश्यकता है न पूजा सामग्री की । नाम लेने न लेने का उस कोई प्रभाव नहीं पड़ता । उसे किसी उपहार की आवश्यकता नहीं । विश्व सम्पदा के अधिष्ठाता की ऐसी इच्छा-आवश्यकता हो भी नहीं सकती । यह हमारी अपनी क्षुद्रता है जो इतनी बड़ी शक्ति को नगण्य से उपचारों से प्रभावित करके उससे उचित-अनुचित मनोरथों की पूर्ति करा लेने की बात सोचते हैं । ऐसा पक्षपात तो कोई ईमानदार न्यायाधीश भी नहीं कर सकता । फिर ईश्वर जैसी महान् शक्ति प्रशंसा पूजा जैसे उपहासास्पद उपहारों के बदले कर्मफल की समस्त नियम मर्यादाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी यह सोचना पहले सिरे की मूर्खता का परिचय देना है ।

ईश्वर उपासना जिन्हें भी करनी हो, वे इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए करें । उस आधार पर उपलब्ध होने वाली दिव्य प्रेरणाओं के सहारे अपने गुण, कर्म, स्वभाव की प्रसुप्त विशेषताओं को विकसित करें और उन्हीं समस्त सिद्धियों-विभूतियों को पाने के अधिकारी बनें, जो भक्तियोग की साधना करने वालों में मिलने की बात शास्त्रकारों एवं आप्तजनों ने अपने प्रतिपादनों में समय-समय पर बताई है । ◉

उपासना सम्बन्धी भ्रान्तियाँ और उनका निवारण

तान्त्रिक, अघोरी एवं कापालिक स्तर की आसुरी वाममार्गी साधनाओं में भावनाओं का नहीं, क्रियाओं का महत्व माना जाता है। उनमें चरित्र का नहीं, दुस्साहस के रूप में विकसित किये जाने वाले मनोबल मात्र का चमत्कार है। मशीनों में भावना नहीं क्रिया होती है। इस क्रिया शक्ति को ही जड़-पदार्थों में सन्निहित, कार्यरत पाया जाता है। तान्त्रिक साधनाओं में शरीरगत, मनोगत विशिष्ट शक्तियों को उभारने वाली उत्तेजनायें उत्पन्न की जाती हैं और उफान का बिना नैतिक-अनैतिक विचार किये मनचाहे उपचारों में प्रयोग किया जाता है। मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, स्तम्भन आदि तन्त्र प्रयोग के सभी प्रहार लक्ष्य आसुरी अनैतिक हैं। उस स्तर की शक्तियों का उपार्जन सृष्टा ने कठिन एवं दुरूह रखा है, साथ ही उस क्षेत्र में प्रवेश करना भी खतरे से खाली नहीं रखा है।

बिजली भौतिक शक्ति है, उससे कई काम तो होते हैं, पर साथ ही तनिक-सी असावधानी से प्राणघातक संकट भी आ खड़ा होता है। बन्दूक चलाने वाले जानते हैं कि गोली छूटते समय पीछे की ओर झटका भी लगता है। अणु विस्फोट से ऊर्जा तो उत्पन्न होती है, पर साथ ही विकिरण का सर्वनाशी खतरा भी जुड़ा रहता है। आतिशबाजी का खेल खेलने, हिंस्र पशुओं का शिकार खेलने वाले कई बार खतरा उठाते देखे गये हैं। भौतिक शक्तियाँ सभी ऐसी हैं, उनमें क्षमा का कोई नियम नहीं है। साँप सपेरे पर भी हमला बोलता है। दाव लगने पर सरकस के हिंस्र पशु अपने पालनकर्त्ता की ही बोटी-बोटी नोंच डालते हैं। मशीनों की चपेट में आने पर उनके स्वामी-संचालक भी हाथ-पैर कटाते, जान गँवाते देखे गये हैं। भौतिक क्षेत्र में क्रिया ही प्रधान है। सही-गलत प्रयोग का वहाँ हाथों-हाथ प्रतिफल मिलता है।

भावना क्षेत्र उससे सर्वथा भिन्न है। उसमें उच्चस्तरीय

आस्थाओं, श्रद्धा और सम्वेदनाओं का साम्राज्य है । वहाँ उपचारों का मूल्य कानी कौड़ी और स्नेह–सौजन्य का मूल्य पर्वत के समान है । छोटा बच्चा माता को हर दृष्टि से हैरान ही करता है और एक भी शिष्टाचार का पालन नहीं करता, फिर वात्सल्य एवं ममत्व की सघनता के कारण माँ बच्चे के बीच जो आत्मीयता पायी जाती है, वह देखते ही बनती है । बालक के प्रायः सारे ही व्यवहार अनगढ़, असभ्य जैसे होते हैं, फिर भी माता उनके कारण कभी तनिक भीखीजती नहीं पायी जाती । गोदी में चढ़ने के लिये हाथ बढ़ाना, आँख मिलने पर मुस्करा देना भर बालक ऐसा कृत्य है, जिसके बदले माता अपना सब कुछ लुटाने के लिये तैयार रहती है । दक्षिणमार्गी उपासना मार्ग के साधक और साध्य के इसी प्रकार के भाव–भरे आदान–प्रदान चलते हैं । उनमें कर्मकाण्डों का अधूरापन या व्यतिक्रम कोई खास बाधा नहीं डालता । उचित तो यही है कि हर वर्ग स्तर के लोग नियम–मर्यादाओं के परिपालन में सतर्कता बरतें और सही तरीका ही अपनायें ।

वैदिकी, दक्षिणमार्गी भक्ति परम्परा भाव प्रधान है । उसमें भी यों क्रिया–कृत्यों का, कर्मकाण्डों का आश्रय तो लिया जाता है, पर उतनी चिन्ता की आवश्यकता नहीं पड़ती, जितनी कि तान्त्रिक उपक्रमों में तनिक–सा व्यतिरेक उत्पन्न होने पर प्राण संकट आ उपस्थित होने की स्थिति उत्पन्न होती है । यही वैदिकी और तांत्रिकी साधनाओं का अन्तर है । वैदिकी देव साधनाओं में भूल, व्यतिरेक का दुष्परिणाम अधिक से अधिक इतना हो सकता है कि जितने सत्परिणाम की आशा की जानी चाहिये, उससे कम मिले या विलम्ब लगे । उलटकर हानि होने की तो किसी प्रकार आशंका नहीं की जा सकती ।

प्रसिद्ध है कि वाल्मीकि को शुद्ध राम नाम तक उच्चारण करना न आया और वे उल्टा नाम अर्थात् 'राम' के स्थान पर 'मरा' जपते रहे। इतने पर भी सिद्ध पुरुष बन गये । उच्चारण की भूल से कोई अनिष्ट नहीं हुआ वरन् श्रद्धा की उत्कृष्टता उस औंधे–सीधे उपचार के सहारे ऊँची उठती चली गयी और पर्वत के मूर्धन्य शिखर पर जा पहुँची । अशिक्षित एवं अनगढ़ भक्तजनों की ऐसी विशालकाय सेना है जो निर्धारित संभावनाओं के सम्बन्ध में अपरिचित एवं अनभ्यस्त रहे । अपनी अनगढ़ स्थिति में भी वे उच्चस्तरीय उपलब्धियों को हस्तगत करने में सफल रहे ।

ऐसे, भक्तजनों में शबरी, कुब्जा जैसी अनगढ़ नारियाँ और कबीर, रैदास, नामदेव जैसे स्वल्प शिक्षितों की लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है, जो विधि–विधान की प्रवीणता से नहीं वरन् भाव–श्रद्धा के सहारे चरम लक्ष्य तक पहुँचने में समर्थ हुए । शास्त्र विधि को देखते हुए उनकी पूजा पद्धति में निश्चय ही त्रुटियाँ रही होंगी, पर उस व्यवधान ने कहीं किसी प्रकार का संकट उत्पन्न नहीं किया । सामन्तवाद के दिनों–मध्यकाल में दुर्गा, भैरव जैसे तांत्रिक देवी–देवताओं की मान्यता का दौर रहा है । उन दिनों हर किसी को शत्रु को परास्त करके स्वयं सत्ताधीश बनने की बैचैनी थी । इसके लिये आक्रमणकारी–आतंकवादी नीति तो वे अपनाते ही थे, साथ ही यह प्रयत्न भी करते थे कि अध्यात्म क्षेत्र से भी उनके कृत्यों में कुछ सहारा मिल सके । ऐसे लोगों के लिये आसुरी तन्त्र मार्ग ही उपयोगी पड़ता है । असुर परम्परा में उसी का प्रचलन भी रहा है । जो अपनी तृष्णा पूर्ति के लिये आसुरी साधना के क्षेत्र में उतरते थे, उन्हें क्रिया–कृत्यों के बारे में अत्यधिक सतर्क रहना पड़ता था अन्यथा दुधारी तलवार उलटकर अपना ही अंग–भंग कर सकती थी । उस स्थिति में कृत्यों में सावधानी को प्राथमिकता मिलती थी और मिलनी भी चाहिये थी । इसीलिये यजमान लोग हर काम में प्रवीण पण्डितों की ही नियुक्ति करते थे । पुरश्चरण प्रक्रिया आद्योपान्त ऐसी है जिसे निष्णात पण्डित ही, उच्चारण एवं कृत्य की दृष्टि से सही रीति से सम्पन्न कर सकते हैं । उन दिनों हर प्रयोक्ता पर यह भय छाया रहता था कि कहीं क्रिया–कृत्यों में भूलचूक न रह जाय, अन्यथा लाभ के स्थान पर उल्टे विग्रह का सामना करना होगा और लेने के देने पड़ जायेंगे । इस भय के वातावरण में उस स्तर के सभी उपचार प्रवीण पण्डितों की सहायता से ही सम्पन्न करने पड़ते थे । यहाँ तक कि साधारण अग्निहोत्र में भी उन्हें आगे रखे बिना किसी को कुछ करने का साहस नहीं होता था ।

मध्यकाल के अन्धकार युग में जब प्रचलन तान्त्रिक उपचारों का ही हो गया और 'मद्य, मांस च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च' के पञ्च–मकार ही उपासना क्षेत्र के अधिष्ठाता बन गये, तब उस व्यापक अनाचार को निरस्त करने के लिये भगवान बुद्ध का अवतरण हुआ और उन्होंने उस अनाचार की धज्जियाँ उड़ाईं । उन्हीं दिनों की बात है कि पुरोहित वर्ग ने अपनी विशिष्टता सिद्ध करने तथा अर्थ–उपार्जन

का नया स्रोत उभारने के लिये उस मान्यता का परिपूर्ण समर्थन किया कि विधि–विधान में राई–रत्ती भूल हो जाने पर भी देवता रुष्ट हो जाते हैं और फिर कर्त्ता से उलट कर बदला लेते हैं। यह मान्यता योजनाबद्ध ढंग से फैलाई गयी। उसके समर्थन में बहुत कुछ कहा एवं लिखा गया।

यह मान्यता तान्त्रिक उपचारों के क्षेत्र तक ही फैलनी और सीमित रहनी चाहिये थी, पर दुर्भाग्य उसने वैदिकी, दक्षिण मार्गी, दैवी साधना उपासना के क्षेत्र पर भी आक्रमण बोल दिया। इतना ही नहीं, उसे भी बेतरह अपने चंगुल में फँसा लिया। दैनिक उपासना जैसे नित्य कर्मों के सम्बन्ध में भी यह शंका की जाने लगी कि कहीं भूल होने पर अनर्थ न हो जाय और इष्टदेव उस भूल से रुष्ट होकर उल्टे आक्रमण पर न उतर आयें।

यह भयाक्रान्त आशंका ऐसे अवसरों पर स्पष्टतया प्रगट होती है, जब किसी उपासक को सामान्य कारणों से किसी कठिनाई, असफलता या विपत्ति का सामना करना पड़ता है। उसका शंका–शंकित मन सर्व प्रथम इसी बात में उलझता है कि हो न हो यह पूजा उपचार में कोई भूल–त्रुटि रहने के कारण उत्पन्न हुआ अनर्थ है। ऐसी दशा में उसकी मनःस्थिति विचित्र होती है। गर्म दूध न घूँटते बनता है, न उगलते। करते रहें, तो प्रस्तुत कठिनाई के और भी बढ़ जाने की आशंका है। छोड़ते हैं, तो देवता के और भी अधिक रुष्ट होकर उग्र आक्रमण करने का भय है। ऐसी दशा में एक ओर कुँआ दूसरी ओर खाई देखकर उपासना के मार्ग पर बढ़ने वाला यही सोचता है कि क्यों इस व्यर्थ के झंझट में फँसें। भविष्य के लिये वह इस जंजाल से किसी प्रकार पिण्ड छुड़ाने भर की बात ही सोचता है।

उपरोक्त भ्रान्ति क्रमशः मनों में इतनी गहरी उतरती गयी है कि अध्यात्म तत्व ज्ञान से अपरिचित भावुक भक्त जनों में से कितने ही जीवन क्रम में कोई कठिनाई या व्यवधान आते ही यह सोचने लगते हैं कि उनकी पूजा विधि या तो गलत है या फिर उसमें कोई भूल रह गयी है। इसी कारण उन्हें कठिनाई या असफलता का सामना करना पड़ रहा है।

वास्तविकता ऐसी होती नहीं। सात्विक उपासनायें ही प्रज्ञा

परिवार के लोग करते हैं। न तो कोई तान्त्रिक विधान उन्हें बताया गया है और न उस मार्ग को अपनाने के लिये प्रोत्साहन दिया गया है। वे जो कुछ करते हैं, वह विशुद्ध रूप से सतोगुणी, दैवी एवं आध्यात्मिक प्रकृति का है। उसमें कहीं ऐसी कोई गुन्जायश नहीं है कि कृत्यों में भूल होने से किसी विपत्ति या विग्रह की आशंका हो। अधिक से अधिक इतना ही हो सकता है कि अविधि पूर्वक करने से लाभ उससे कम मिले जितना कि मिलना चाहिये था। उल्टा परिणाम तो कभी भी किसी भी स्थिति में नहीं हो सकता। इस संदर्भ में गीता ने दो टूक स्पष्टीकरण किया है–

नेहाभिक्रम नाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

गीता–२/४०

अर्थात्–उस उपक्रम का न तो उल्टा परिणाम निकलता है और न वह सर्वथा निरर्थक ही जाती है। उसे थोड़ी मात्रा में करने पर भी संकटों से मुक्ति मिलती है।

भगवान का नाम, उपासना का उपक्रम एक ही परिणाम उत्पन्न कर सकता है और वह है कषाय-कल्मषों के कारण उत्पन्न होने वाले त्रासों से परित्राण। उल्टा उपद्रव खड़ा करने की उसकी प्रकृति ही नहीं है। उसके कारण किसी प्रकार का संकट उत्पन्न होने की आशंका तो करनी ही नहीं चाहिये। माता न तो कभी आहत कर सकती है और न वैसा सोच ही सकती है। धरती माता, गौ माता, प्रकृति माता की सहज प्रकृति स्नेह करने, सहायता करने एवं सुविधा साधन उपलब्ध कराने की है। वे छेड़खानी करने पर अधिक से अधिक इतना ही कर सकती हैं कि सहयोग से हाथ खींच लें। पतन, पराभव के षड्यन्त्र अपने ही आँचल की छाया में पलने वालों के विरुद्ध वे कर ही नहीं सकतीं। साधना, उपासना की भक्ति भी ऐसी ही है। उसका आश्रय लेने पर कष्ट घटते हैं बढ़ते नहीं।

अचिन्त्य चिन्तन से अपना ही अहित होता है। क्रोध, ईर्ष्या, चिन्ता, भय, आशंका जैसे मनोविकार धारणकर्त्ता का ही सर्वनाश करते हैं। जिनके विरुद्ध दुर्भाव रखे जाते हैं, उनका अहित तो कदाचित ही स्वल्प मात्रा में हो पाता है। आपत्तियों का कारण आमतौर से मनुष्य

के अब के या पिछले विभ्रम दोष, दुर्गुण या कुकृत्य ही होते हैं। दण्ड का तात्पर्य इतना ही है कि मनुष्य भविष्य में अधिक सावधानी बरते और अधिक सही, सक्षम रहे। प्रकृति प्रकोप से भी कोई प्रतिकूलतायें भुगतनी पड़ें तो उनका तात्पर्य भी आग में पकाने, खराद पर चढ़ाकर चमकीला बनाने, धार रखकर पैना करने जैसा होता है। प्रखर और प्रतिभावान बनने वालों में से प्रत्येक को प्रतिकूलताओं से जूझकर ही अपने को अधिक समर्थ, सक्रिय बनाने का लाभ उपलब्ध हुआ है। ऐसे ही अनेक कारण दण्डात्मक, सुधारात्मक प्रस्तुत कठिनाइयों के हो सकते हैं। विश्व परिस्थितियों का प्रवाह अपने ढंग से चलता है, उससे भी प्रतिकूलता उत्पन्न होती रहती है। वातावरण का प्रभाव भी कई बार निर्दोषों को भी गेहूँ के साथ घुन पिस जाने की तरह हैरान करता रहता है। आसुरी तत्व भी बिना कारण-अकारण का विचार किये ऐसे ही भले-बुरे का भेद-भाव किये बिना अपने कत्लेआम का शिकार बनाते रहते हैं। ऐसे-ऐसे अनेकों कारण मनुष्य के सामने आती रहने वाली कठिनाइयों एवं विपत्तियों के हो सकते हैं। उन सब का विचार किये बिना समस्त आगत कठिनाइयों का दोष अपनी छुट-पुट सी उपासना के मत्थे मढ़ देना सर्वथा अनुचित है।

लोगों में एक बहुत बुरी आदत यह पायी जाती है कि अपनी कठिनाइयों का कारण किसी दूसरे का कसूर सोचकर सस्ते में अपना मन हल्का करते रहते हैं। अमुक ने जादू टोना करके हमें या हमारे परिवार को हैरानी में डाल दिया है। ऐसा सोचते रहने वाले और निर्दोष पड़ोसियों पर अकारण ही दुर्भाव थोपते रहने वालों की कमी नहीं। भूत-पलीतों और ग्रह-नक्षत्रों पर ऐसे ही इल्जाम लगाने वालों की मूर्ख मण्डली के सदस्य लाखों नहीं करोड़ों होंगे। भाग्य को कोसने वाले, हस्तरेखाओं के रचयिताओं पर अन्याय का दोष लगाने वाले किसी से पीछे नहीं। माँ-बाप ने अमुक कमी न रखी होती, जैसे सोचते-कहते हुए असंख्यों पाये जाते हैं। ऐसे ही भ्रम जंजाल में फँसने वाले वे लोग हैं, जो अपनी कठिनाइयों के ऐसे असंख्यों कारणों में से एक का भी विचार नहीं करते, जिनके निज के दोष-दुर्गुणों पर भटकाव, अनाचार एवं अचिन्त्य चिन्तन का पर्दाफाश होता है। सरलता इसी में प्रतीत होती

है कि क्यों न उपासना जैसे किसी ऐसे माध्यम को दोषी ठहरा दिया जाय, जो सामने खड़ा होकर अपनी सफाई देने और झूँठे इल्जाम के बदले गाल पर तमाचा जड़ने की स्थिति में नहीं है।

अवांछनीय दोषारोपण से अपनी आत्मा कलुषित होती है । आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का अवसर हाथ से निकलता है । प्रतिरोधों से जूझने की सामर्थ्य कुण्ठित होती है । जब देवता या भगवान ही विपत्ति बरसाने के कारण हैं, तो उनसे जूझने की प्रतिकार चेतना कोई किस प्रकार उभारे । ऐसी मनःस्थिति में हताश होकर आँसू बहाते रहने या जिस पर दोष थोपा गया है, उसे कोसते रहने के अतिरिक्त और कोई चारा ही शेष नहीं रह जाता। यह मनःस्थिति मनुष्य का भविष्य अन्धकारमय बनाने वाली सिद्ध हो सकती है।

यह ध्यान रखने योग्य तथ्य है कि उपासना की सफलता में कर्मकाण्ड का महत्व दस प्रतिशत है और सघन श्रद्धा की भूमिका नब्बे प्रतिशत होती है । यदि श्रद्धा डगमगाने लगे, तो समझना चाहिये कि अब यहाँ श्रद्धा के पैर जमने जैसी कोई सम्भावना रह नहीं गयी । जो तन्त्र विनय वन्दन का प्रतिफल अनिष्ट के रूप में उत्पन्न कर सकता है, वह निश्चय ही निकृष्ट स्तर का, घिनौना होना चाहिये । उसका आश्रय लेने पर आये दिन ऐसे ही उपद्रव खड़े होने का भय बना रहेगा । प्रत्यक्ष है कि भय, अनिश्चितता और दुष्टता की आशंका मन में उठने लगे तो फिर उस केन्द्र पर श्रद्धा-विश्वास का, भक्ति-भावना का, स्नेह-समर्पण का कोई आधार बन नहीं सकता । यदि आस्था सुदृढ़ न हुई तो फिर कोई श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कर्मकाण्डों वाली उपासना भी किसी के लिये किसी भी परिमाण में फलप्रद नहीं हो सकती । उसमें लगाया हुआ श्रम निष्फल ही नहीं जायेगा वरन् असफलता जन्य आक्रोश के कारण नास्तिकता में परिणत होता चला जायेगा । ऐसे लोगों में से तो वे लोग कहीं अच्छे, जो उपासना करते ही नहीं । उन्हें कम से कम असंतोष, आक्रोश एवं नास्तिकता के गर्त में जा गिरने का अनर्थ तो नहीं अपनाना पड़ता । इस प्रकार वे नफा भले ही न कमायें, अकारण घाटा होने का संकट नहीं सहते ।

किसी की उपासना करनी हो, तो उसके प्रयोजन, परिणाम की

आशा इतनी ही करनी चाहिये कि इससे अपने आत्म–परिष्कार में सहायता मिलेगी । सत्प्रवृत्ति–संवर्धन का द्वार खुलेगा और विकसित व्यक्तित्व के सहारे सुसंस्कारी व्यक्तियों को जिस प्रकार आत्म–सन्तोष, जन सहयोग एवं दैवी अनुग्रह मिलता रहता है, हमें भी मिलेगा । इससे एक कदम और बढ़ना हो और लाभ–हानि का अनुमान लगाना हो तो यही मान्यता सघन बनानी चाहिये कि उपासना से लाभ बढ़ सकते हैं । उसका भौतिक परिणाम भी संकटों को पूरी तरह समाप्त करने में समर्थ न होने पर भी उसके बोझ को हल्का तो अवश्य ही करता है । आगत संकट दस किलो भारी हो तो उपासना के आधार पर उपलब्ध हुए मनोबल के कारण आधा तिहाई ही रह जायेगा ।

प्रतिकूलता और उपासना की संगति बिठाने की तत्वतः आवश्यकता है नहीं, क्योंकि दोनों के क्षेत्र सर्वथा भिन्न हैं । प्रतिकूलता और अनुकूलता आमतौर से व्यक्ति की कौशल–कुशलता पर निर्भर रहती है, जबकि उपासना से अन्तःक्षेत्र की सत्प्रवृत्तियों को उभारने और व्यक्तित्व में सुसंस्कारिता के समावेश का अवसर मिलता है । कुशलता–प्रतिभा पर सांसारिक सफलता–तुविधा की न्यूनाधिकता निर्भर है, जबकि उपासना मनुष्य के दृष्टिकोण, चरित्र सम्मान एवं कार्यक्षेत्र में उत्कृष्टता का समावेश करती है । ऐसी दशा में एक–दूसरे को जोड़ने की बात सर्वथा अनुपयुक्त है । फिर भी प्रचलित भ्रम मान्यताओं के अनुरूप यदि उपासना के भौतिक लाभ–हानि की संगति जोड़े बिना काम न चले तो फिर दो दृष्टिकोण अपनाने चाहिये । सफलताओं का श्रेय उपासना को दिया जाय और असफलताओं का दोष अपने प्रारब्ध–पुरुषार्थ में कमी रहना मानकर अपने ऊपर ओढ़ा जाय । इस मापदण्ड को अपनाकर ही श्रद्धा को जीवन्त रखा जा सकता है और अत्मिक प्रगति का द्वार खुला रह सकता है ! विकृत चिन्तन से तो सब प्रकार अहित ही अहित है । सफलताओं के लाभ का श्रेय अपने को और जो कठिनाई जिस कारण से उत्पन्न हैं, उन सबका दोष उपासना पर थोप देने का परिणाम एक ही होगा–अपनी रही–सही श्रद्धा की समाप्ति–आत्मिक प्रगति में भावी सम्भावनाओं की इतिश्री । इसी को 'अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारना" कह सकते हैं । भ्रान्त धारणा से लाभ तो कुछ नहीं मिला, हानि

का–असंतोष का कुहासा और घिर गया, इसे दोहरी मूर्खता के अतिरिक्त और क्या कहा जाय।

बुरी परिस्थितियों का दोष उपासना जैसे उत्कृष्ट अवलम्बन पर थोपना जिस प्रकार अनर्गल है, उसी प्रकार यह भी अनुचित है कि उपासना को एक रिश्वत की तरह प्रस्तुत करके देवी–देवताओं को ललचाया जाय। हमारा अमुक काम हो जायेगा, तो इतनी राशि पूजा में खर्च करेंगे। इतना जप–अनुष्ठान करेंगे। यह शर्तबद्ध प्रलोभन है। दूसरे शब्दों में यह रिश्वत पेशगी भी दी जा सकती है और बाद में भी। अमुक मनोरथ पूरा होने की शर्त पर पेशगी बाद में पूजा का प्रलोभन किसी को भी प्रस्तुत नहीं करना चाहिये। इसे दैवी शक्तियाँ अपनी अवमानना सोच सकती हैं, जैसे कि रिश्वत देने की पेशबन्दी करने वालों के साथ कई प्रखरता सम्पन्न न्यायाधीश करते हैं। रिश्वत लेना और देना दोनों ही जुर्म हैं। इसी प्रकार लाभ उपार्जित करने के लिये अमुक पूजा उपचार करने की पेशबन्दी करना भक्त की, भक्ति की और भगवान की दुर्भाग्य पूर्ण दुर्गति के समान ही समझी जायेगी। उपासना करने वाले स्मरण रखें, इस पुनीत अवलम्बन का स्तर न गिरायें भले ही वे उसे करें या न करें। पूजा न करना उतना बुरा नहीं जितना कि उसकी सड़ी नालियों में घसीट–घसीट कर दुर्दशा एवं बदनामी करना।

"सन्धिवेला की विशिष्ट साधना-ध्यान धारणा"
दिव्य अनुदानों का सुयोग सुअवसर

मनुष्य के अपने पुरुषार्थ का महत्व तो है ही, साथ ही यदि परिस्थितियों की अनुकूलता भी उपलब्ध हो सके तो सफलता और भी अधिक सुनिश्चित हो जाती है । उगता तो बीज ही है और उगाने का श्रेय भी धरती को ही मिलेगा किन्तु वर्षा ऋतु आने पर पौधों को जल्दी उगने और बढ़ने का अवसर मिलता है, इस तथ्य से सभी परिचित हैं । फूल अन्य महीनों में भी खिलते हैं किन्तु वसन्त में वृक्ष-वनस्पतियों को जिस प्रकार फूल, कोंपलों से लदा देखा जाता है, वैसा अन्य किसी महीने में नहीं । शीत ऋतु स्वास्थ्य संवर्धन के प्रयोगों को अपेक्षाकृत अधिक सफल बनाती है । गर्मी के आँधी-तूफान समूची धरती की सीलन सुखाने और बुहारी लगाने का काम करते हैं । अन्य महीनों में प्रकृति को वैसा करने की फुरसत ही नहीं रहती ।

हवा का रुख पीछे हो तो नाव से लेकर साइकिल तक की चाल में सहज ही तेजी आ जाती है । कुशल अध्यापक के तत्वावधान में पढ़ने वाले विद्यार्थी अधिक अच्छे नम्बर पाते हैं । साधनों की कमी न पड़े, तो बुद्धिमत्ता और परिश्रमशीलता को चमत्कारी सफलतायें प्राप्त करने का अवसर मिलता है । यह परिस्थितियों के प्रभाव का परिचय देने वाले कुछ विवरण हैं, जिनसे प्रतीत होगा कि बाह्य अनुकूलताओं का भी प्रगति क्रम में कम योगदान नहीं होता । सरकारी भर्ती खुलने पर इच्छुकों को सरलतापूर्वक काम मिलता है अन्यथा योग्यता होने पर भी निराश बैठे रहना पड़ता है । खरीद बढ़ने पर उत्पादक को अच्छा मुनाफा मिल जाता है अन्यथा परिश्रमी लोग बहुत उगा लेने पर भी घाटा उठाते या कम मोल में बेचकर उल्टा घाटा ही उठाते हैं ।

साधना में यों अपना पुरुषार्थ ही प्रमुख है किन्तु वातावरण एवं परिस्थितियाँ भी सहायक या बाधक होती हैं । हनुमान, अंगद, नल, नील एवं रीछ वानरों को श्रेय यों उनके पराक्रम का ही मिला पर यह

भी मिथ्या नहीं है कि सीताहरण और असुरता उन्मूलन की परिस्थितियाँ सामने न आतीं, तो वे सभी अन्यान्य रीछ–वानरों की तरह सामान्य स्तर का जीवन गुजारते रहते । अवसर सामने न होने पर कोई करे भी तो क्या करे ? ग्वाल–वालों को श्रेय इसलिये भी मिला कि कृष्ण ने गोवर्धन उठाने की योजना बनायी और उसमें सहायता की आवाज लगाई । यदि वैसी आवश्यकता सामने न आती तो ग्वाल–बालों को सामान्य पशुपालकों से बढ़कर ऐसा कुछ हस्तगत न होता जिसके सहारे वे ऐतिहासिक चर्चा का विषय बनते । सुरक्षा संकट उत्पन्न होने पर सरकार नागरिकों को हथियार बाँटती है जबकि साधारण समय में पैसा खर्चने और आवेदन करने पर भी किसी–किसी को कठिनाई से उनका लाइसेन्स मिलता है । दंगल का आयोजन हो तो पहलवान को अपना कौशल दिखाने, इनाम जीतने का अवसर मिले । अन्यथा उसे घर रहकर कसरत करते रहने में ही दिन गुजारने पड़ते हैं । चुनाव घोषणा होने पर ही प्रत्याशी खड़े होते हैं और जीतकर प्रतिनिधि सभा में पहुँचते हैं । चुनाव ही न हो तो लोकप्रिय समाज सेवी को भी प्रतिनिधि बनने का सुयोग कैसे मिले ?

ऊपर कतिपय उदाहरण इसलिये प्रस्तुत किये गये हैं कि अवसर का महत्व समझा जाय । सामने हो तो उससे लाभ उठाया जाय । आलस्य प्रमाद की दीर्घसूत्रता में उसे गँवाया न जाय । नवरात्रि साधना का एक विशेष अवसर है । अन्य दिनों की अपेक्षा उन दिनों किये गये अनुष्ठान अपेक्षाकृत अधिक सफल होते है । तीर्थ–स्नान तो कभी भी किया जा सकता है, पर पर्वकाल में उसका अधिक पुण्य प्रतिफल माना गया है । उपासना के लिये हर समय अच्छा है पर प्रातःकाल में जो आनन्द आता है, वह अन्य समय नहीं । सोने को तो दिन में भी कोई रोक नहीं पर सभी जानते हैं कि रात्रि में जैसी गहरी और लम्बी नींद आती है, वैसी दिन में नहीं । इसे समय का प्रभाव ही कहा जायगा । सफलताओं में परिस्थितियों का भी योगदान रहता ही है ।

अध्यात्म साधनायें करने के लिये हर समय हर किसी को छूट एवं सुविधा मिली हुई है किन्तु कभी–कभी ऐसे भी अवसर आते हैं

जिनका सुयोग बैठ सके तो लम्बे समय तक कठिन परिश्रम करने पर जो लाभ मिलना चाहिये वह उस विशिष्ट अवसर के कारण स्वल्प काल में भी, अधिक परिमाण में मिल सकता है । ऐसी उपलब्धियों को दैवी अनुदान कहा जाता है।

रामकृष्ण परमहंस को कुछ करना था। उनने विवेकानन्द को ढूँढ़ निकाला और अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति के लिये जितनी आत्म-शक्ति आवश्यक थी, उतनी अपनी तप सम्पदा में से हस्तान्तरित कर दी । समर्थ रामदास का अनुदान शिवाजी को और चाणक्य का वरदान चन्द्रगुप्त को मिला था । तपस्वी भागीरथ का गंगावतरण प्रयास शिवजी की सहायता से सम्पन्न हुआ । गांधीजी का सघन सहयोग पाये बिना बिनोवा वहाँ न पहुँच पाते जहाँ वे पहुँचे । लोक व्यवहार में भी अनेकों को अपने पूर्वजों की सम्पदा उत्तराधिकार में मिलती है वे अनायास ही सुख-चैन में समय बिताते हैं । अभिभावकों के अनुदानों के सहारे ही अधिकांश छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करते और प्रगतिशील कहलाते हैं। यों कुछ अपवादों में ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं, जिनमें परिस्थितियाँ उत्साहवर्धक न होने पर भी मनस्वी लोग आगे बढ़े और ऊँचे उठे हैं। इतने पर भी यह निश्चित है कि उन्हें यदि साधनों की कमी और परिस्थितियों की प्रतिकूलता न रही होती, तो अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में, कम समय में अधिक सफलता अर्जित कर सके होते ।

युग संधि का यह विशेष पर्व है । ऐसे समय कभी हजारों-लाखों वर्ष बाद आते हैं। सृष्टा को कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तन करने होते हैं । निराकार ब्रह्म की प्रकाश प्रेरणा अन्तःकरण को ही प्रभावित करती है। क्रियाकलाप साकार होते हैं। उन्हें करने-कराने के लिये मनुष्य शरीर एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है । भूतकाल के युग परिवर्तनों में भी यही होता रहा है। महामानवों, देवदूतों, युग प्रवर्तकों के रूप में सृष्टा का प्रतिनिधि ही इच्छा पूर्ति में संलग्न रहे हैं। निराकार ब्रह्म के लिये यह कठिन है कि वह स्वयं अपने व्यापक स्वरूप को समेट कर व्यक्तियों का रूप बनाये और सामान्यजनों की

तरह चढ़ाव–उतारों से जूझने का उपक्रम अपनाये। शासनाध्यक्ष योजना बनाते और निर्देश देते हैं। असंख्य प्रकार की शासकीय गतिविधियों का कार्यान्वयन करने में तो बड़े अफसरों से लेकर छोटे कर्मचारी तक ही निरत रहते हैं। इतना अवश्य है कि इन कार्यरत अफसरों को उनकी आवश्यकतानुसार अधिकार एवं साधन सरकार की ओर से ही प्रदान किये जाते हैं। व्यक्तिगत हैसियत में तो वे वैसा कुछ कर ही नहीं सकते जैसा कि शासनतंत्र के अंग रहकर ही कर सकना उनके लिये सम्भव होता है।

इलाज तो डाक्टर ही करते हैं। प्रत्यक्षतः उन्ही की सेवाओं से रोगी लाभ उठाते हैं किन्तु परोक्षतः सरकारी अनुदानों से ही वहाँ की समूची साधन व्यवस्था चलती है। इमारत, उपकरण, औषधि, वेतन आदि का सरकारी प्रबन्ध न हो तो अनुभवी डाक्टर भी उस अभावग्रस्त स्थिति में कुछ बड़ा काम न कर सकेंगे। यही बात सैनिकों के सम्बन्ध में भी है। लड़ने का पराक्रम और विजय का श्रेय तो उन्हीं के हिस्से में आता है, पर यह तथ्य भी किसी से छिपा नहीं कि वाहन, वस्त्र, भोजन, अस्त्र, बारूद, निर्वाह जैसी उनकी अनेकों आवश्यकताओं की पूर्ति रक्षा मंत्रालय को ही करनी होती है। परशुराम अपने बलबूते विश्व विजय का एकाकी अभियान नहीं रच सकते थे। उनसे यह सब तभी सम्भव हो सका जब वे भगवान शिव की इच्छा पूरी करने के लिये भारी जोखिम उठाने के लिये कटिबद्ध हो गये। नल–नील ने पत्थरों को तैरा कर समुद्र पुल बनाया था। ऐसा कर सकना उनके लिये तब किसी प्रकार सम्भव न हुआ होता, जब उनने पुल बनाने वाले टेकेदारों की तरह निज़ी निर्वाह की दृष्टि रखी होती। सैनिक यदि निजी दुश्मनी निकालने के लिये पड़ौसियों पर आक्रमण करना चाहें, तो उन्हें उन उपकरणों का लाभ नहीं लेने दिया जायेगा, जो देश रक्षा के लिये युद्ध मोर्चे पर जाने के उद्देश्य से मिलता है।

आध्यात्मिक अनुदानों की सामान्य परम्परा भी रही है और आपत्तिकालीन अतिरिक्त व्यवस्था भी होती है। गुरु शिष्यों को,

देवता भक्तों को समय-समय पर अनेकानेक अनुदान देते रहे हैं, पर साथ ही इसका भी ध्यान रहता है कि उपलब्धकर्त्ता उसे संकीर्ण स्वार्थ परता की पूर्ति में खर्च न करने लगे। "दैवी वरदान दिव्य प्रयोजनों के लिये" का सिद्धान्त यदि समझा जा सके, तो उस व्यापक भ्रम जंजाल से सहज छुटकारा मिल सकता है, जिसके कारण लोग निजी स्वार्थ सिद्धि के लिये पूजा-पाठ के बदले दैवी अनुग्रह जैसा बहुमूल्य झटक लेने का ताना-बाना बुनते रहते हैं और उस अनैतिक प्रसंग में असफल रहते हैं।

युग संधि की वेला में नव सृजन का उत्तरदायित्व सम्भालने वाली दिव्य शक्तियाँ इन दिनों ईश्वरीय प्रयोजनों के लिये जागृत आत्माओं की तलाश में हैं। उन्हें वाहन बनाकर अग्रदूतों का काम लेना चाहती हैं। इसमें प्रयोजन तो स्रष्टा का पूरा होता है और उसमें भागीदार बनने का साहस दिखाने के बदले श्रेयाधिकारी बनने का लाभ उन्हें मिलता है, जो इन दोनों किसी न किसी रूप में युग शिल्पी की भूमिका निभाने का शौर्य साहस जुटा सकेंगे। पाण्डवों को ऐसा ही श्रेय मिला था। अर्जुन का रथ भगवान ने इसलिये चलाया था कि वह उनकी इच्छानुसार विशाल भारत की, महाभारत की संरचना का कष्ट साध्य कार्य कराने में भगवान का सहयोगी बनने के लिये तत्पर हो, यदि ऐसा न होता, तो भगवान उसके घोड़ों की घास खोदने के लिये नौकरी की अर्जी लेकर थोड़े ही जाने वाले थे। सुदामा को भगवान ने अपना सारा वैभव हस्तान्तरित किया था, उसमें उनके महान गुरुकुल का सुप्रबन्ध करने की दूरदर्शिता सन्निहित थी। यदि उनने स्वयं सेठ बनने के उद्‌देश्य से याचना की होती, तो तिरस्कारपूर्वक कुछ सिक्के पाकर अपनी क्षुद्रता को सन्तोष दे पाते।

इन दिनों युग देवता ने सृजन शिल्पियों को ऐसे अलभ्य अनुदान देने का निश्चय किया है, जितना कि वे निजी प्रयास से निजी प्रयोजन के लिये लम्बे समय तक कष्ट साध्य श्रम करने पर भी अर्जित करने में सफल न हो पाते। योगाभ्यास, तपश्चर्या, व्रतशीलता, ब्रह्मविद्या, परमार्थ परायणता के क्षेत्र में गहराई से उतरने वाले ही चेतना के

महासागर के कुछ मणि मुक्ता उपलब्ध कर पाते हैं, पर यदि सौभाग्य साथ दे, तो किसी राजाधिराज के अनुग्रह से बहुमूल्य हीरक हार उपहार में बिना मूल्य भी मिल सकता है । इस सम्भावना के पीछे एक तथ्य तो निश्चित रूप से है कि देने वाला किसी कारण उस व्यक्ति पर अत्यधिक उदार हो उठे । निश्चय ही यह कार्य न तो दाता की भावुकता कर सकती है और न याचक की गिड़गिड़ाहट । उसके पीछे कोई ऐसी विशिष्टता होनी चाहिये, जिसके कारण दाता का मन इतना भावविभोर हो उठे कि उस रत्नराशि को दिये बिना रुक सकना ही सम्भव न हो सके ।

इन दिनों उच्चस्तरीय अध्यात्म अनुदान सत्पात्रों को वितरण किये जा रहे हैं । सत्प्रयोजन के लिये प्रयुक्त किये जाने वाला आश्वासन दिलाने पर उन्हें सहज ही उपलब्ध किया जा सकता है । सरकार तकाबी बाँटती है। कुआँ खोदने, पशु पालने, उद्योग खड़ा करने जैसे किन्हीं ऐसे कामों के लिये ही वह धन दिया जाता है, जिससे न केवल ऋण लेने वाले का वरन् उस उपार्जन से अन्यान्य लोगों का भी हित साधन होता है । बुद्ध, गांधी की महानता में ईश्वरीय अनुदान जुड़े हुए थे, पर वे मिले इसी शर्त पर थे कि उनके सहारे आत्म–कल्याण के अतिरिक्त लोक–कल्याण का भी प्रयोजन पूरा हो सके । नारद देवर्षि कहलाते थे । उन्हें विष्णु लोक तक पहुँचने की, भगवान के किसी भी स्थिति में होने पर भी उनसे मिल सकने की, बिना रोकटोक वार्तालाप कर सकने की छूट थी । इसीलिये उन्हें देवर्षि कहा जाता था । यह गौरव अन्य किसी ऋषि को प्राप्त नहीं था । अकेले उन्हीं को ऐसा सौभाग्य क्यों मिला ? इसका एक ही उत्तर है कि वे दैवी उपलब्धियों का पूरा–पूरा उपयोग लोक शिक्षण के लिये ही करते थे । अपनी इच्छा, सुविधा का ध्यान न रखते हुए परिभ्रमण करते हुए भगवद्भक्ति के प्रसार में, उच्चस्तरीय प्रेरणायें भरने में प्रयत्नशील रहते थे ।

युग संधि के दिनों हिमालय के आध्यात्मिक ध्रुव केन्द्र से ऐसी दिव्य क्षमताओं का प्रसार विस्तार हो रहा है, जिन्हें ग्रहण, धारण

करने वाले असाधारण शक्ति–सामर्थ्य उपलब्ध कर सकें और संसार का तथा साथ–साथ अपना भी भला कर सकें । दैवी अनुदानों के साथ सदा से यह शर्त जुड़ी रही है कि वे ऐसे प्रामाणिक व्यक्तियों के हाथ सौंपे जायें, जिनके द्वारा उनका मात्र सदुपयोग ही बन पड़े, उस अनुदान से विश्व–व्यवस्था में सहायता मिले और सत्प्रवृत्तियों के पनपने, फलने–फूलने की सम्भावना बने । मात्र स्वार्थ साधन के लिये किसी ने दैवी अनुग्रह माँगा होगा, तो उसे खाली हाथ ही लौटना पड़ा होगा । निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भगवान ने हर मनुष्य को शरीर, मस्तिष्क और निर्वाह साधनों की सहज सुविधा उत्पन्न की हुई है । रावण, हिरण्याक्ष जैसी तृष्णा लद पड़े तो बात दूसरी है अन्यथा उचित निर्वाह के लिये हर प्राणी के लिये अपना–अपना सामान्य पुरुषार्थ ही पर्याप्त होता है । कभी किसी को विशेष दैवी अनुग्रह मिले होंगे, तो उनके पीछे इस तथ्य की जाँच–पड़ताल अवश्य हुई होगी कि उस अतिरिक्त अनुदान का उपयोग किस प्रयोजन के लिये किया जाता है । इन दिनों हिमालय पर अवस्थित अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र कुछ ऐसी आलोक किरणें निःसृत कर रहा है, जिसके सहारे स्वार्थ और परमार्थ का संयुक्त समन्वय सम्भव हो सके ।

उद्योगों में एक अत्यन्त सरल, सुविधाजनक एवं बिना जोखिम का उद्योग 'कमीशन' का है । उत्पादक का माल उपभोक्ता तक पहुँचा देने वालों को मध्यवर्ती पारिश्रमिक लाभांश मिलता है । इसी का नाम 'कमीशन' है । ईश्वरीय अनुदानों को सत्पात्रों तक पहुँचा देने की मध्यवर्ती ढुलाई, मजूरी भी इतनी बन जाती है कि उसके द्वारा निजी उद्योग चलाने से भी अधिक लाभ उपार्जन किया जा सके । छोटी–बड़ी एजेन्सियाँ भी कम नफे में नहीं रहतीं । वे लाखों–करोड़ों इसी व्यवसाय में कमाती रहती हैं । इन दिनों सृष्टा की इच्छा जन–जन के मन–मन तक नवसृजन की चेतना उत्पन्न करने और लोकमानस को सत्प्रवृत्तियों के साथ जोड़ देने की है । इस कार्य में जो भी सहायता करना चाहें, अपना श्रम नियोजित करने के लिये इच्छुक हों, इन्हें बेचने वितरण करने के लिये आवश्यक अनुदान मिल सकते हैं । खपत में कमीशन पक्का ।

बीमा से लेकर अनेक व्यवसायों में एजेण्ट लोग भ्रमण करते जन सम्पर्क साधते, ग्राहक पटाते हैं । साथ ही अपना अच्छा-खासा पारिश्रमिक भी मात्र हाथ-पैर की पूँजी के सहारे वसूल करते रहते हैं । दूसरों के हाथ पर लगाने के लिये मेंहदी पीसने वालों के हाथ अनायास ही रच जाते हैं । ऋषि मुनियों से लेकर लोक सेवी महामानव यही करते रहे हैं । दैवी शक्तियों का अनुदान जन-जन तक पहुँचाने में वे प्रवृत्त रहे हैं । इससे भगवान की इच्छा पूरी हुई है । जन-जन का हित साधन हुआ है । साथ ही उन लोकसेवियों ने स्वयं भी पुण्यात्माओं का श्रेय सम्पादन किया है । यशस्वी, विभूतिवान बने हैं तथा आत्म संतोष के साथ जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सके हैं । इन दिनों भी ऐसा ही सुयोग-संयोग है । दूरदर्शी इसका सहज लाभ उठा कर सौभाग्यवान बन सकते हैं । साधना से सिद्धि का सिद्धान्त तो सर्व विदित है ही, पर इन दिनों एक ऐसा अलभ्य अवसर उपलब्ध है कि स्वयं की अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए उसकी अनुकम्पा, शक्ति सम्पदा ही नहीं कृतज्ञता भी प्राप्त की जा सकती है । यह सौभाग्य उन्हीं को मिलना है, जो युग संधि के दिनों नव-सृजन के लिये अपने श्रम, समय एवं साधनों को किसी अंश में लगाने के लिये व्रतशील हो सकें । उन्हें बैंक खजांची की भाँति विपुल राशि वितरित करते रहने जैसे उत्तरदायित्व भरा सम्मानित पद प्राप्त हो सकता है ।

पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव केन्द्र अनन्त अन्तरिक्ष में संव्याप्त ब्रह्माण्डीय सूक्ष्म संपदाओं में से जो आवश्यक हैं, उन्हें खींचता रहता है । बचे-खुचे कूड़े-करकट को दक्षिण-ध्रुव के माध्यम से खत्ते में उड़ेल देता है । इसी अनुदान के सहारे पृथ्वी के महत्वपूर्ण क्षेत्र अपना-अपना गुजारा चलाते हैं । बादल बरसते हैं, तो उनसे खेत, कुँए, नदी, नाले सभी अपना भण्डार भरते हैं । बादल न बरसें तो किसी जलाशय में एक बूँद भी दृष्टिगोचर न हो । इसी प्रकार अन्तरिक्षीय सामर्थ्य-मेघ धरती पर बरसते हैं । वह उन्हें सोखकर ब्रह्माण्ड की राजकुमारी बनी रहती है ।

ठीक यही भूमिका हिमालय के मध्य केन्द्र में अवस्थित

आध्यात्मिक ध्रुव–केन्द्र की होती है। वे ब्रह्माण्ड व्यापी दिव्य चेतना का, मानवोपयोगी अति महत्वपूर्ण अंश आकर्षित करते हैं । उसे धारणा कहते हैं और जहाँ जिन घटकों की जितनी आवश्यकता पड़ती है, वहाँ उसी अनुपात में व्यवस्थापूर्वक पहुँचाते हैं। इस केन्द्र को धरती का स्वर्ग कहा जाता है । पुरातन काल से लेकर अद्यावधि वही सिद्ध पुरुषों की क्रीड़ा–भूमि रही है। देव सत्ता का प्रतिनिधित्व करने वाली आत्मायें इसी क्षेत्र में सूक्ष्म शरीर से विद्यमान रहती हैं । सुमेरु पर्वत को देव पर्वत कहा गया है । उस पर समस्त देवताओं के निवास करने का पुराणों में उल्लेख है ।

तपस्वी, योगी प्रायः इस क्षेत्र में विद्यमान विशेष प्राण ऊर्जा का लाभ उठाने के लिये, उच्चस्तरीय साधनायें करने के लिये पहुँचते हैं। पाण्डव शरीर समेत स्वर्ग प्रयाण के लिये इसी क्षेत्र के स्वर्गारोहण शिखर पर गये थे। पौराणिक स्वर्ग की ऐतिहासिक एवं भूगोल–सम्मत संगति इसी क्षेत्र के साथ बैठती है। दशरथ, अर्जुन, नारद आदि का आवागमन देव सान्निध्य के सन्दर्भ में इसी क्षेत्र में रहा है। मानवी विकास विद्या के विद्यार्थी यही कहते पाये जाते हैं कि आर्य मध्य एशिया से भारत में आये और उन्होंने मध्यवर्ती पड़ाव हिमालय के जिस क्षेत्र में डाला उसका नाम स्वर्ग रखा गया । उस मण्डली के अधिनायक इन्द्र का निवास यही था । तिब्बत के लोगों की मान्यता इस क्षेत्र के सम्बन्ध में ऐसी ही है । थियोसोफिकल सोसाइटी ने भी इसी क्षेत्र में सिद्ध पुरुषों की मण्डली का निवास बताते हुए कहा है कि वहाँ से संसार में ब्रह्माण्डीय चेतना का वितरण होता है। नन्दनवन, महाशिवलिंग वाला कैलाश अभी भी इसी क्षेत्र में देखा जा सकता है ।

उल्लेखों, प्रतिपादनों के अतिरिक्त अनुभूतियाँ भी इस तथ्य को प्रकट करती हैं कि इस समूचे धरातल पर विद्यमान चेतना का ध्रुवकेन्द्र हिमालय के मध्यकेन्द्र में है । उसी भाग को 'देवात्मा हिमालय' कहते हैं । इसे भौतिक क्षेत्र के उत्तरी ध्रुव के समान ही आध्यात्मिक चेतना का चुम्बकीय क्षेत्र कहा गया है । वहाँ ब्रह्माण्डीय चेतना में से उपयोगी अंश पकड़ा, खींचा और एकत्रित किया जाता

है । आवश्यकतानुसार उसी को जहाँ, जितनी, जिस स्तर की आवश्यकता पड़ती है वहाँ उतना ही प्रेषण, विभाजन, वितरण कर दिया जाता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस क्षेत्र को अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र कहा गया है। भौगोलिक दृष्टि से इसे गंगोत्री, गोमुख से आगे का, बद्रीनाथ के बीच में पड़ने वाला सुमेरु के आसपास का क्षेत्र कह सकते हैं। प्रज्ञावतार की युगान्तरीय चेतना का विकिरण भी यहीं से निःसृत होता है। इन दिनों उसमें आधिकाधिक प्रखरता बढ़ती चली जा रही है। सूर्योदय के समय की किरणों में मन्दताप होता है, पर मध्यान्ह काल में वे ही प्रचण्ड ऊर्जा धारण करती और प्रचण्ड बनती चली जाती हैं ।

इस केन्द्र में इन दिनों अत्यधिक सक्रियता है । ज्वालामुखी की तरह लपटें उबलती–उछलती दिव्य चक्षुओं से देखी जा सकती हैं । यह विशेष उद्‌भव इसलिये हो रहा है कि उससे विशिष्टों को विशिष्ट और सामान्यों को सामान्य स्तर की क्षमतायें सरलतापूर्वक अनुदान के रूप में उपलब्ध हो सकें । यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि ऐसे अनुदानों को देवी प्रयोजनों के लिये ही प्रयुक्त करने की शर्त होती है । संकीर्ण स्वार्थपरता की पूर्ति के लिये देवताओं को फँसाने का जो भी जाल–जंजाल बुनता है, वह अपनी ही कुटिलता का कष्टकारक फल स्वयं ही विनिर्मित करता है ।

चेतना के तीन स्तर हैं–कारण, सूक्ष्म, स्थूल । कारण अर्थात् अन्तरात्मा। सूक्ष्म अर्थात् विचारणा । स्थूल अर्थात् क्रियाशीलता । इन्हीं तीन स्तरों को श्रद्धा, प्रज्ञा, निष्ठा के तीन नामों से जाना जाता है । भक्तियोग, कर्मयोग और ज्ञानयोग की विद्या इन्हीं तीनों को विकसित करने के लिये विनिर्मित हुई है । सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के रूप में इन्हीं तीनों की व्याख्या–विवेचना होती है । देवता, ऋषि एवं सिद्ध पुरुष इन तीन क्षेत्रों के तीन उपार्जन हैं । मनुष्य इन्हीं तीन शरीरों से आच्छन्न है । कारण शरीर का केन्द्र विन्दु हृदय चक्र, सूक्ष्म शरीर का आज्ञा चक्र और स्थूल शरीर का नाभि चक्र है ।

हठयोग में नाभिचक्र को ही मूलाधार कहते हैं और आज्ञा चक्र

में सहस्रार है । मेरुदण्ड के माध्यम से इन्हीं दो सिरों को कुण्डलिनी उत्तेजित करती है । मूलाधार को भूलोक, सहस्रार को ब्रह्मलोक और मेरुदण्ड में तीनों के मध्य चलने वाले आवागमन का मध्यमार्ग 'देवयान' कहा गया है । कुण्डलिनी जागरण का उपक्रम इसी क्षेत्र में होता है ।

हृदय चक्र की उपलब्धि है–अमृतानुभूति । आज्ञा चक्र की दिव्य ज्योति । मूलाधार नाभि चक्र की प्राण ऊर्जा । इन तीनों दिव्य शक्तियों की अपनी–अपनी विशेषतायें हैं । अमृतानुभूति का रसास्वादन करने वाले देवत्व के साथ जुड़ी हुई विभूतियों से भर जाते हैं । व्यक्तिगत रूप से वे आप्तकाम बनते हैं । कामना की तृप्ति, तृष्णा की तुष्टि और आकांक्षा की शान्ति का त्रिविध आनन्द मिलता है । साथ ही समूचे वातावरण को, प्राणि समुदाय को भाव संवेदनाओं, दिव्य प्रेरणाओं से भर देने की सामर्थ्य उनमें होती है । प्रकारान्तर से इस क्षेत्र के समर्थों को धरती के देवता, अग्रदूत, अवतारी आदि नामों से पुकारते हैं ।

सूक्ष्म शरीर के सामर्थ्यवानों को ऋषि, मनीषी, तत्वदर्शी आदि नामों से पुकारते हैं । यथार्थता को जानने की उनमें विशेषता होती है । अतीन्द्रिय क्षमताओं के धनी होते हैं । बौद्धिक क्षेत्र में उनके पराक्रम उच्चस्तरीय होते हैं । व्यास का साहित्य सृजन, धन्वन्तरि का आयुर्वेद, द्रोणाचार्य की शस्त्र विद्या, नागार्जुन की रासायनिकी, सुश्रुत की शल्य विद्या आदि अनुसंधानों में किन्हीं यन्त्र उपकरणों की सहायता नहीं ली गयी थी । इन ऋषियों ने अपने सूक्ष्म शरीर को ही अनेकानेक यन्त्र उपकरणों की आवश्यकता पूर्ण कर सकने योग्य बना लिया था । दधीचि तो चलते–फिरते डायनामाइट राडार थे । उनने अपने समय में अणु बम की भूमिका अपने अस्थिपंजर से ही विनिर्मित कर दी थी । लोक शिक्षण एवं लोक निर्माण में ऋषियों की ही वाणी तथा प्रतिभा काम करती है । दिव्य दृष्टि से वे त्रिकालदर्शी होते हैं और शाप–वरदान के माध्यम से अनेकों पर अनुशासन रखते तथा अभ्युदय का अवलम्बन प्रदान करते हैं ।

स्थूल शरीर में ऊर्जा का निवास है । उसी के न्यूनाधिक होने से मनुष्य की बलिष्ठता तथा साहसिकता घटती-बढ़ती रहती है । काय बल के नाम से जानी जाने वाली बलिष्ठता देखने में तो रक्त-मांस की परिणति प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः वह प्राणतत्व के अनुपात की न्यूनाधिकता पर आश्रित है।

रोगनिरोधक शक्ति, जिजीविषा, स्फूर्ति, तेजस्विता, आकर्षण क्षमता, प्रभावोत्पादकता, साहसिकता, श्रम में अभिरुचि, दृढ़ता, धैर्य आशावादिता, प्रतिकूलताओं से निपटने की सूझबूझ जैसी अनेकों शारीरिक मानसिक विशेषताओं का आधार प्राणशक्ति की न्यूनाधिकता पर निर्भर है । इसके लिये शारीरिक संरचना का भी प्रभाव तो पड़ता है किन्तु अंशतः हैं वे प्राण शक्ति पर ही अवलम्बित है । गांधी, बिनोवा जैसे दुर्बलकाय व्यक्ति भी सैण्डो, किंगकांग, जैविस्को, गामा और विश्व विख्यात पहलवानों की तुलना में अधिक पराक्रमी ही सिद्ध हुए हैं। उन्हें कृश काय होते हुए भी दुर्बल कह सकने की घृष्टता कोई नहीं कर सकता ।

मस्तिष्क शरीर का अंग है । उसे ग्यारहवीं इन्द्रिय कहा जाता है । भौतिक प्रयोजनों में काम आने वाली दक्षता भी शरीर क्षेत्र की विशेषता ही मानी जाती है । अस्तु चेतना का शरीर से जुड़ा हुआ-लोक व्यवहार में काम आने वाला भाग चातुर्य कहलाता है और वह कायिक विशेषता के क्षेत्र में ही सम्मिलित किया जाता है । उस क्षेत्र का सूत्र-संचालन प्राण शक्ति ही करती है । प्रजनन की उत्तेजन क्षमता से लेकर कलाकारिता, एकाग्रता, सरसता, तन्मयता जैसे गुणों का उभार प्राण-चेतना की प्रखरता का ही परिचय देते हैं। शरीर के इर्द-गिर्द विशेषतया चेहरे के इर्द-गिर्द रहने वाला तेजोवलय उसी सूक्ष्म शक्ति का स्थूल परिचय है । शरीर शास्त्री इसी को जीवनी शक्ति कहते हैं । वस्तुतः यह एक प्रकार की चेतना विद्युत है और विद्युत की तरह ही अपने क्षेत्र में चमत्कारी परिणतियाँ उत्पन्न करती हैं । अध्यात्म की भाषा में इसी के निष्ठा कहते हैं ।

ज्ञान जिसे प्रकाश कहते हैं, वह मन और बुद्धि से आगे की

शक्ति है । उसे प्रज्ञा कहते हैं । स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन के माध्यम से उसी को विकसित किया जाता है । दूरदर्शिता, विवेकशीलता, आत्मबोध, आत्म–विश्वास, आत्मावलम्बन जैसी विशेषतायें प्रज्ञा की परिणति हैं । कल्पना, विवेचना और निर्धारणा भौतिक प्रयोजन सम्हालने वाली लोक व्यवहार की दक्षता को ही आमतौर से बुद्धि समझा जाता है और क्रियाकुशल लोग बुद्धिमान कहे जाते हैं, पर अध्यात्म क्षेत्र का वर्गीकरण इससे भिन्न है । उसमें नीर–क्षीर विवेक कर सकने वाली, मात्र औचित्य के मोती ही उदरस्थ करने वाली हंस वृत्ति को ही दूरदर्शी विवेकशीलता के नाम से जाना–माना गया है । अचेतन, उच्च चेतन के नाम से मनोविज्ञानी जिन रहस्यमयी परतों की चर्चा करते रहते हैं, उन्हें अध्यात्म की भाषा में चित्त कहा गया है । प्रज्ञा को चिति या चित शक्ति भी कहते हैं । दूरदर्शन, दूरश्रवण, भविष्य ज्ञान, विचार संचालन, शक्तिपात, कुण्डलिनी प्रकरण, षटचक्र वेधन, पंचकोश जागरण आदि नामों से इसी क्षेत्र की रहस्यमयी क्षमताओं की चर्चा होती रहती है । आज्ञाचक्र, ब्रह्मरंध्र, सहस्रार आदि नामों से जाने जाने वाले क्षेत्र की अधिष्ठात्री प्रज्ञा ही है । इसको विकसित करने में शारीरिक स्थिति का कम और संकल्प शक्ति का अधिक योगदान रहता है ।

ऊपर की पंक्तियों में प्राण और प्रज्ञा का संक्षेप संकेत जान लेने के साथ–साथ ही आस्था क्षेत्र पर भी एक बार पुनः दृष्टिपात कर लेना चाहिये । अपने सम्बन्ध में, अपनी मान्यताओं के सम्बन्ध में, साथियों के सम्बन्ध में, वस्तुओं के साथ घनिष्टता के सम्बन्ध में जैसी भी मान्यतायें परिपक्व हो जाती हैं, उसी के अनुरूप अपनी एक विशेष दुनियाँ बनकर खड़ी हो जाती है । नर और नारी के कलेवर विशुद्ध रूप से आत्म विश्वास के ऊपर निर्भर हैं। भ्रूण की आरम्भिक अवस्था में शरीर के दोनों अवयव समान रूप से विद्यमान रहते हैं। जीव की पूर्व संचित आस्था जिस वर्ग में रहने की अभ्यस्त होती है उसी का चयन करती है और वही पक्ष विकसित होने लगता है । सामान्य जीवन में भी यदि मनुष्य विपरीत लिंग के सम्बन्ध में अपनी

मान्यता परिपक्व कर ले तो इस जन्म में भी लिंग परिवर्तन सम्भव है । हेय अथवा उत्कृष्ट परिस्थितियों में जीवनयापन करना वस्तुतः आस्था क्षेत्र का ही प्रभाव परिणाम है । 'मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है–इस लोकोक्ति के साथ इस रहस्य से भी अवगत होना चाहिये कि हर मनुष्य अपनी विलक्षण दुनियाँ स्वयं ही गढ़कर खड़ी करता है । रेशम के कीड़े, मकड़ी के जाले का उदाहरण देकर यह समझा जा सकता है कि मनुष्य किस प्रकार उसी में उलझा, जकड़ा, रोता, खीझता या हँसता–हँसाता समयक्षेप करता है । यदि कोई साहसी अपने खोखले को उतार कर नया सृजन आरम्भ कर दे तो निश्चय ही उसे महाप्रलय के उपरान्त विधाता द्वारा की जाने वाली नई सृष्टि की उपमा दी जा सकेगी । ध्रुव, प्रहलाद, पार्वती, सुकन्या, अशोक, भर्तृहरि, वाल्मीकि, अंगुलिमाल, सूर, कबीर जैसे अगणित उदाहरण ऐसे हैं जिनमें मनुष्यों ने अपने कायाकल्प किये हैं और इसी जन्म में कुछ से कुछ बन गये हैं ।

देवताओं, मन्त्रों, योगाभ्यासों, तपश्चर्याओं के माध्यम से मिलने वाली दक्षिणमार्गी एवं वाममार्गी साधनाओं के जो चमत्कारी परिणाम सामने आते हैं उनमें कर्मकाण्डों का तो अकिंचन ही प्रभाव होता है । अधिकांश उत्पादन तो भाव श्रद्धा ही करती है । श्रद्धा न जागे और कर्मकाण्डों की लकीर पिटती रहे तो प्राण–विहीन शरीर की तरह उस बिडम्बना का कोई महत्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत न हो सकेगा । भूतों–प्रेतों का अस्तित्व तो है पर जनसाधारण के ऊपर उनका जो प्रभाव आतंक पाया जाता है । उसे एक प्रकार से आन्तरिक उत्पादन ही कहना चाहिये । छाया पुरुष की तरह देवता भी प्रकट किये जाते हैं और साधक की श्रद्धा के अनुरूप वे अपनी सामर्थ्य का न्यूनाधिक प्रमाण देते रहते हैं । रामकृष्ण–परमहंस की काली उनके लिये जो चमत्कार प्रस्तुत करती थी वह दक्षिणेश्वर के अन्य किसी पुजारी को उपलब्ध नहीं हुआ । मीरा की भाँति कृष्ण और किसके साथ नाचने आते हैं ? एकलव्य के द्रोणाचार्य जैसा गुरु कौरवों–पाण्डवों को भी उपलब्ध न हो सका । श्रद्धा की शक्ति यही है जो झाड़ी से भूत

उत्पन्न करती है । इसे निष्ठा और प्रज्ञा से भी उच्चस्तरीय सामर्थ्य कहा गया है ।

अन्तःकरण का केन्द्र नाभिक हृदयचक्र में माना गया है । भाव संवेदनायें यहीं से उभरती हैं । सहृदयता, हृदयहीनता के रूप में जो चर्चा होती है उसे इसी संस्थान का भला–बुरा स्वरूप कह सकते हैं । अपने सम्बन्ध में जैसी भी मान्यता इस क्षेत्र में गढ़ ली गयी है उसी प्रतिमा को व्यक्तित्व की अधिष्ठात्री कहना चाहिये । 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' के सूत्र में गीताकार ने इसी रहस्य का उद्घाटन किया है । आस्थायें आकांक्षायें उत्पन्न करती हैं । आकांक्षा की प्रेरणा से विचार का प्रवाह चलता है । विचारणा क्रिया को धकेलती है । क्रिया के रूप में जीवनचर्या बनती है । यह दृश्यमान व्यक्तित्व है जो अपने स्तर के सहयोगियों को, परिस्थितियों को न्यौत बुलाता है । इस पर थोड़ा विस्तार पूर्वक विचार किया जा सके, तो प्रतीत होगा कि आस्था संस्थान ही पूरी तरह व्यक्तित्व का स्वरूप गढ़ता है । जो जैसा है उसे तदनुरूप स्वर्ग या नर्क की परिस्थितियों में रहना पड़ता है । उद्यान में कीड़ा पुष्पों पर बैठता है और गुबरीला उसी क्षेत्र में पड़े गोबर की तलाश कर उसी में घर बनाता है । यह अपने–अपने चयन और स्वभाव की परिणति की ही परिणति है । महानता और क्षुद्रता कहीं ऊपर से नहीं टपकती । यह आस्था क्षेत्र में उत्पन्न की गयी वृक्षावली ही है । विषवृक्ष उगे या कल्पवृक्ष यह निर्णय करना अपनी–अपनी आन्तरिक स्थिति पर निर्भर है । विचार–शक्ति की तुलना में भावना की सामर्थ्य असंख्य गुनी है । इसी प्रकार निष्ठा से प्रज्ञा को और प्रज्ञा से श्रद्धा को क्रमशः अधिक उच्चस्तरीय, अधिक सूक्ष्म अधिक समर्थ कहा जा सकता है । प्राण का आवरण शरीर, प्रज्ञा का संस्थान मस्तिष्क और श्रद्धा का हृदय है । इतने पर भी वे इन अवयवों के साथ जुड़ी नहीं हैं । वे अदृश्य जगत से अवतरित होती हैं । प्रतिनिधि चुनकर तो अपने क्षेत्रों से ही आते हैं । पार्लियामेन्ट में तो उनकी सीटें भर नियत रहती हैं । चेतना के दिव्य अनुदान मनुष्य के तीन शरीरों को मिलते हैं । वे किस आसन पर बैठें, किस कमरे में ठहरें

इसी की चर्चा मूलाधार (नाभिचक्र), तृतीय नेत्र (आज्ञाचक्र), अन्तराल (हृदयचक्र) के रूप में की गयी है । सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर और कारण शरीरों का उद्‌गम इन्हीं केन्द्रों को समझा गया है ।

समस्त साधनायें इन्हीं तीनों शरीरों को–केन्द्रों को विकसित परिष्कृत करने के लिये की जाती हैं । उनके स्वरूपों में भिन्नता कितनी ही क्यों न हो, वस्तुतः उस सभी का उद्‌देश्य तीन शक्ति केन्द्रों में से ही किसी न किसी के जागरण का होता है । व्यक्तित्व के साथ गुथी हुई विभूतियाँ यही हैं । इन्हीं की कीमत पर दुनियाँ के बाजार में किसी भी वस्तु को खरीदा जा सकता है ।

कहा जा चुका है कि दिव्य उद्‌गम स्रोतों को जगाने के लिये सामान्यतया हर साधक को स्वयं ही पुरुषार्थ करना पड़ता है । आत्मशोधन, आत्मपरिष्कार, योगाभ्यास, तपसाधन के चार चरण मिलने से साधना का समग्र प्रयोजन पूरा होता है । सर्वतोमुखी प्रगति का, आन्तरिक उत्कर्ष का एवं भौतिक अभ्युदय का आधार इन्हीं प्रयासों से खड़ा होता है ।

किन्तु यह विशेष समय है युग सन्धि की बेला में जागृत आत्मायें अनुदान के रूप में भी इनका लाभ ले सकती हैं । स्मरण रखने योग्य तथ्य एक ही है कि इन दैवी अनुदानों को परमार्थ प्रयोजनों में लगाने का निश्चय हो तो ही कुछ पल्ले पड़ेगा अन्यथा स्थान न मिलने पर धर्मशाला के द्वार से मुसाफिरों के लौट जाने की तरह आह्वान किये दैवी अनुदान भी खिन्न होकर वापिस लौट जायेंगे ।

पात्रता एवं पूर्व स्थिति

युग सन्धि के बीस वर्षों में '८१ से २००० तक हिमालय के ध्रुव केन्द्र से एक दिव्य प्रवाह विशेष रूप से निःसृत हो रहा है । उसे ग्रहण-धारण करने की सुविधा उन सभी को है, जो संकीर्ण स्वार्थपरता के व्यामोह से थोड़ा ऊँचा उठकर इस अनुदान को आत्म-कल्याण एवं लोक-मंगल में प्रयुक्त करें । वैसा कर सकने के योग्य अपनी मनोभूमि विकसित करने का प्रयास आरंभ करें । यह कार्य पण्डिताऊ संकल्प पढ़ देने, जीभ से झूठे-सच्चे आश्वासन देने, एवं मानसिक छल करने के बदले सम्भव न हो सकेगा । ऐसा छल तो आजकल पूजा-उपचार के समय पर किये जाने वाले स्तवन, कीर्तनों में आये दिन होता ही रहता है । अन्तरात्मा के सामने कोई प्रवंचना नहीं चलती । वहाँ मात्र यथार्थता को ही मान्यता मिलती है ।

महाकाल की युगान्तरीय चेतना इन दिनों अवांछनीयता उन्मूलन एवं सत्प्रवृत्ति संवर्धन में निरत है । उस प्रकार की एक सशक्त झाँकी प्रज्ञा अभियान के अन्तर्गत चल रहे नवसृजन प्रयत्नों में भी देखी जा सकती है । इस स्तर के प्रयत्नों में भागीदार बनने के लिये समयदान-अंशदान की आवश्यकता पड़ेगी ही । इनसे बच निकलना, उदार पराक्रमों से दूर रहना और कल्पना लोक की असंगत उड़ानें उड़ते रहने से वह वस्तुस्थिति बनती ही नहीं जिसके आधार पर सामयिक सौभाग्य की तरह बरसने वाले दिव्य अनुदानों का लाभ उठाया जा सके । इसकी पात्रता, नवसृजन के उत्तरदायित्व को भी शरीर एवं परिवार निर्वाह जितना महत्व देने एवं प्रयास करने से ही उभरती है । देवी उपलब्धियों के लिये पूजा तो उपचार मात्र है । वैसी परिस्थितियाँ पात्रता विनिर्मित किये बिना और किसी तरह बनती ही नहीं । आत्मशोधन और आत्म-परिष्कार के लिये किये जाने वाले प्रयास ही किसी की आध्यात्मिक निष्ठा का प्रमाण-परिचय देते हैं ।

युग संधि के पावन पर्व पर इन दिनों उपलब्ध हो सकने वाले त्रिविध दिव्य प्रवाहों से लाभान्वित होने की उपचार प्रक्रिया–अत्यन्त सरल है । याचना हाथ जोड़कर, दाँत निपोरकर, पल्ला पसारकर, अर्जी लिखकर किस प्रकार की जाय और उनमें से किस प्रयोग से कितना लाभ मिलेगा, यह गणित करना व्यर्थ है । मूल प्रश्न पात्रता का है । देने वाला दे सकता है क्या ? लेने वाले में उसके सदुपयोग की क्षमता है क्या ? इन्हीं दो प्रश्नों के आधार पर इस संसार में भी आदान–प्रदान का व्यवहार चलता है । यही नीति अध्यात्म जगत में भी प्रयुक्त होती है । सिद्धि के लिये की जाने वाली साधना में पूजा–उपचारों का स्वल्प अंश अपनाने से ही काम चल जाता है । मूल प्रश्न पात्रता विकसित करने का है । यथार्थवादी साधक अपना ध्यान एवं पुरुषार्थ उसी आत्मशोधन एवं आत्म परिष्कार की प्रक्रिया पर ही केन्द्रित करते हैं । कठिन कार्य यही है । उससे बचकर, उपचारों के सहारे उछलकर आकाश में उड़ने लगने की कल्पना–जल्पना तो असंख्यों करते हैं, पर प्रगति पथ पर अग्रसर होने और सफलता के लक्ष्य तक पहुँचने के लिये धरती पर अपने ही दो कदम उठाते हुए चलना होता है। यह तथ्य हजार बार नोट किया जाना चाहिये कि आत्मशोधन और आत्मपरिष्कार के लिये किये गये प्रयत्न ही साधक की पात्रता बढ़ाते और उस क्षेत्र की उच्चस्तरीय सफलताओं का सुनिश्चित आधार बनाते हैं ।

इसके लिये तीन उपाय हैं–(१) उपासना (२) साधना (३) आराधना । उपासना अर्थात् आदर्शों के समुच्चय पारब्रह्म के साथ अधिकाधिक समीपता स्थापित करना । उसकी प्रेरणायें अधिकाधिक मात्रा में आत्मसात् करना । सान्निध्य की भक्ति–भावना उभारना और चन्दन के समीप उगने वाले झाड़ की तरह अधिकाधिक सुगन्धित बनते जाना । क्रमशः अग्नि और ईंधन जैसी एकात्मता प्राप्त करना–यही है अन्तरात्मा का उच्चस्तरीय श्रद्धा से भर लेना । भक्तियोग का उद्‌देश्य इसी स्थिति को उभारना है ।

साधना अर्थात् जीवन साधना । आत्म–निरीक्षण, आत्मशोधन, आत्म–निर्माण एवं आत्म विकास की अन्तःचेतना उत्पन्न करने के लिये स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन का नियमित प्रबन्ध करना । इन्द्रिय संयम, समय संयम एवं विचार संयम को ध्यान में रखते हुए दिनचर्या बनाना शेष जीवन में अधिक उत्कृष्टता का समावेश करते चलने की योजना बनाना । उसे कार्यान्वित करना । अन्तरंग में सुसंस्कारिता का अभिवर्द्धन और व्यवहार में सज्जनोचित सभ्यता का अभ्यास करना । इस निर्धारणों को संकल्पपूर्वक, स्वभाव–अभ्यास का अविच्छिन्न अंग बनाने के लिये प्रयत्नरत् रहना । संक्षेप में यही है जीवन साधना, जिससे अनगढ़ को सुगढ़ बनाया जाता है । इसी प्रयास से नर को नारायण बनने का सौभाग्य मिलता है ।

आराधना अर्थात् लोकमंगल के लिये समयदान–अंशदान का एक महत्वपूर्ण अंश नियोजित किये रहना । समाज ऋण से मुक्ति, ईश्वरीय अपेक्षा की पूर्ति एवं सर्वतोमुखी प्रगति के तीनों ही उद्देश्य इस उदार परमार्थ परायणता के बदले ही खरीदे जाते हैं । इन दिनों की सर्वोपरि परमार्थ साधना लोक मानस का परिष्कार है । सत्प्रवृत्ति संवर्धन से ही अवांछनीय प्रवाह उलटे जा सके हैं । आस्था संकट के निवारण, जनमानस के परिष्कार, सत्प्रवृत्ति संवर्धन के निमित्त चल रहे प्रज्ञा प्रवाह में भागीदार बन कर यह आराधना प्रयोजन अधिक ऊँचे स्तर का सम्पन्न किया जा सकता है ।

व्यक्ति निर्माण, परिवार निर्माण और समाज निर्माण की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ इन दिनों युगान्तरीय चेतना द्वारा व्यापक–विस्तृत की जा रही हैं । इसी आलोक से साधक अपनी जीवनचर्या में कुछ न कुछ आदर्शवादी प्रसंगों को नये सिरे से धारण कर सकते हैं । जो प्रयत्न चल रहे हों उन्हें बढ़ा सकते हैं । पात्रता विकास की दिशा में प्रयत्नशील जागृत आत्माओं के लिये हिमालय से अरुणोदय काल जैसे आलोक वितरण का लाभ सरलतापूर्वक मिल सकता है । जो

कार्य चिरकाल के कठोर श्रम साधना से सम्पन्न होता है, वह इस दिव्य प्रवाह के साथ सम्बन्ध जोड़ लेने पर सरलतापूर्वक सम्पन्न हो सकता है।

यह प्रवाह प्रातः सूर्योदय से एक घण्टा पूर्व आरम्भ होता है और सूर्योदय तक चलता है । इसी प्रकार सायंकाल सूर्यास्त से लेकर एक घण्टा उपरान्त तक यह प्रवाह प्रक्रिया चलती रहती है । इसी बीच साधना के लिये बैठना चाहिये । मुख हिमालय की दिशा में रखा जाय । भारत में अधिकांश स्थानों में हिमालय उत्तर में पड़ता है किन्तु अन्य देशों में वह अन्य दिशाओं में होगा । उन्हें अपना मुख इसी आधार पर रखकर बैठना चाहिये कि वहाँ हिमालय किस दिशा में पड़ता है ।

एकाकी या सामूहिक बैठने की जहाँ जैसे व्यवस्था हो वहाँ वैसा प्रबन्ध कर लेना चाहिये । जहाँ अन्य साथी नहीं वहाँ एकाकी ही बैठना पड़ेगा । किन्तु जहाँ कुछ दूसरे साथी भी मिल सकें वहाँ सामूहिक रूप से बैठना अधिक प्रभावी होगा । एक उद्‌देश्य से, एक स्थान पर एक जैसी मनोभूमि के लोग बैठते हैं, तो उनकी संयुक्त शक्ति का लाभ सभी को मिलता है । इसलिये प्रयत्न उसी के लिये करना चाहिये । एकाकी बैठने का लाभ एक व्यक्ति को ही मिलता है, किन्तु सामूहिक प्रयत्नों की सम्मिलित प्रतिक्रिया सभी को उस संयुक्त शक्ति का लाभ देती है और वे सभी अपेक्षाकृत अधिक लाभ में रहते हैं । ऐसे संयुक्त प्रयत्नों का प्रभाव न केवल साधकों को वरन् समूचे संसार को मिलता है । इस प्रकार संयुक्त साधना से विश्व सेवा का पुण्य अर्जन भी साथ-साथ बन पड़ता है । आत्मोत्कर्ष का, तीनों शरीरों की प्रखरता का प्रत्यक्ष लाभ तो है ही ।

यों, यह प्रवाह निरन्तर उपरोक्त समय पर जारी रहता है और उसे दैनिक रूप से भी उपलब्ध किया जा सकता है किन्तु सामान्यतः यही सुविधाजनक रहेगा कि सप्ताह में एक बार रविवार या गुरुवार

को यह संयुक्त साधना का क्रम चलाया जाय । प्रातः सुविधा रहेगी या सायंकाल, यह निर्धारण साधकों की मनःस्थिति एंव परिस्थिति को देखकर किया जा सकता है और आवश्यकतानुसार उसमें फेर–बदल भी हो सकता है । इस ध्यान धारणा में सम्मिलित होने के लिये स्नान आवश्यक नहीं है फिर भी हाथ, पैर, मुँह धोकर तो बैठना ही चाहिये । वस्त्र अपेक्षाकृत कम रहें । सम्भव हो तो धुले पहनें ।

स्मरण रहे यह ध्यान धारणा का अभ्यास नहीं अनुदान ग्रहण का प्रयोग है । इसलिये इसे अभ्यास की संज्ञा नहीं देनी चाहिये । बादल बरसने की, सूर्य प्रकाश में बैठकर ऊर्जा लाभ लेने की मनःस्थिति में ही साधकों को अपना आसन ग्रहण करना चाहिये और पूरे समय इसी मनोभूमि को बनाये रहना चाहिये । अभ्यास के लिये आधा घण्टा समय निर्धारित है । घड़ी का प्रबन्ध रक्खें और उतने ही समय में प्रक्रिया पूर्ण करें । तीन शरीरों के लिये तीन स्तर के इन तीन प्रवाहों को बारी–बारी करके एक–एक बार प्रयोग करते रहना चाहिये ।

ध्यान–मुद्रा

दिव्य प्रवाह ग्रहण करने के लिये पंक्तिबद्ध होकर बैठें । अगल–बगल की और आगे–पीछे की दोनों ही पंक्तियाँ सही–सीध में होनी चाहिये ।

जिन्हें खाँसी, जमुहाई आती हो, जो बीमार हों, जिनके घुटने आधा घण्टा बैठे रहने की स्थिति में न हों, उन्हें इस ध्यान–धारणा में नहीं बिठाना चाहिये बालकों, अनगढ़, अनबूझों, अर्ध–विक्षिप्तों को भी नहीं बिठाना चाहिये । वे अस्त–व्यसत हरकतें करते हैं और दूसरों का ध्यान बँटाकर विघ्न खड़ा करते और वातावरण बिगाड़ते हैं । अनुपयुक्तों को छूट देना, सम्मिलित करना सारे प्रयत्न को ही अस्तव्यस्त कर देने के समान है । इस संदर्भ में अनुशासन बरता जाना चाहिये और किसी के प्रसन्न होने न होने की चिन्ता न करके निर्धारित अनुशासन बनाये ही रहना चाहिये । गोदी में बच्चे लेकर न बैठें । बीच–बीच में लोग उठते या बैठते न चलें । इस दृष्टि से समय पर कार्य आरम्भ करना चाहिये और पीछे आने वालों को साधकों की पंक्ति में न बिठाकर कुछ दूरी पर अन्यत्र बिठाना चाहिये, जिससे वे लाभ तो ले सकें पर अव्यवस्था फैलाने की गड़बड़ी न करें । बच्चे अपने अभिभावकों के पास दौड़–धूप न करने लगें–पालतू कुत्ते–बिल्ली अपने मालिकों के इर्द–गिर्द मँडराने न लगें, इसलिये प्रवेश को प्रतिबंधित किया जाय और रोकथाम के लिये चौकीदार नियुक्त किया जाय ।

सभी ध्यान–मुद्रा में बैठें । इसके लिये छः अनुशासन निर्धारित है । इन्हें प्रवक्ता उसी प्रकार बोले जिस प्रकार ड्रिल में कप्तान बोलता है और सैनिक स्वयं सेवक उन 'काशनों' का परिपालन करते

हैं । हर 'काशन' के बीच एक-एक मिनट का मध्यान्तर होना चाहिये ताकि उस स्थिति को ठीक प्रकार बना सकना सम्भव हो सके ।

१. सावधान-

जागरूक । चुस्त । उपेक्षा नहीं । उदासी नहीं । अस्तव्यस्तता नहीं ।

२. शान्त चित्त-

एकाग्रता । एक निष्ठा । तन्मयता । मानसिक अनुशासन । मन के स्वामी । रुकने का आदेश दें । भागने से रोकें । न चंचलता चलने दें । न उच्छृंखलता । मन की भगदड़ को दबायें-दबोचें ।

३. स्थिर शरीर-

अविचल । सुदृढ़ । सुनिश्चित । स्थिर चट्टान की तरह । डगमगायें नहीं । अंगों को हिलायें नहीं । गरदन-घुमायें नहीं ।

४. कमर सीधी-

झुकिये नहीं । सीना तानें । मेरुदण्ड में प्राण प्रवाह बहने दें । इड़ा पिंगला-सुषुम्ना का मार्ग सीधा रखें ।

५. हाथ गोदी में-

बॉंया हाथ नीचे । दाहिने ऊपर । दो का मिलन । सहकार-एकात्म । प्राण विद्युत का सर्किल-सर्किट ।

६. आँखें बन्द-

प्रवृत्ति अन्तर्मुखी । प्रवेश अन्तर्जगत में । गुफा प्रवेश । अन्तः पर्यवेक्षण । परिशोधन-परिवर्धन । अनात्म प्रवेश पर प्रतिबन्ध । पलक बन्द-कपाट बन्द ।

ध्यान मुद्रा । भाव समाधि । योग निद्रा । आत्मस्थ । समाधिस्थ ।

यह आसन सिद्धि का प्रथम सोपान है । इसके उपरान्त ध्यान

आरम्भ किया जाता है । एक दिन एक ध्यान । समय आधा घण्टा ।

यह ध्यान मुद्रा तीनों साधनाओं के आरम्भ में करनी होती है । उनके 'काशन' देते समय उनकी उपरोक्त विवेचनायें भी साथ-साथ करनी चाहिये । यह विवेचनायें एक ही स्थान पर इसलिये लिख दी गयी हैं कि छपने में बार-बार उनकी पुनरावृत्ति अटपटी न लगे । हर बार, हर साधना में इन्हें कहा जाना चाहिये ।

अन्त में पाँच बार ॐकार गुन्जन इस प्रकार कण्ठ से करना चाहिये, मानो शंख-ध्वनि हो रही हो ।

तीन शरीरों की तीन प्रार्थनायें करने के उपरान्त ध्यान प्रक्रिया तो समाप्त हो जाती है, किन्तु इसके बाद भी पाँच मिनट तक शान्तिपूर्वक बैठे रहना चाहिये । इस अवधि में जो पाया गया है, उसे सीखने-पचाने की भावना करते रहना चाहिये । उसके बाद आँखें खोलनी चाहिये और सिर-आँखों पर हाथ फेर कर योगनिद्रा समाप्त करनी चाहिये । इसके बाद ही उठना उचित है ।

इस साधना को एक प्रकार की ड्रिल समझा जाय, जिसमें एक सूत्र संचालन निर्देश देता है-शेष सभी साधक उसका अनुशासनपूर्वक पालन करते हैं । इस आधार पर हिमालय की शक्ति को ग्रहण-धारण करके वे दिव्य अनुदान पाये जा सकते हैं, जिनसे स्थूल शरीर की प्राण ऊर्जा, सूक्ष्म शरीर की दिव्य दृष्टि और कारण शरीर की सोमपान की देवत्व जैसी मस्ती का आनन्द उपलब्ध किया जा सके ।

सूक्ष्म शरीर से प्रज्ञा–तीर्थ में उपस्थिति

यहाँ ध्यान कहाँ बैठकर किया जा रहा है, इसके लिये विशेष स्थान पर पहुँचने की धारणा करनी चाहिये। इसके लिये 'शान्ति कुञ्ज' हरिद्वार की धारणा सर्वोत्तम है। अपने घर–नगर में बैठकर ध्यान किया जा रहा है–यह चिन्तन हटाकर सोचना चाहिये कि अपना सूक्ष्म शरीर हरिद्वार जा पहुँचा और वहाँ के निर्धारित साधना कक्ष में बैठकर यह अभ्यास किया जा रहा है।

(१) गंगा की गोद। (२) हिमालय की छाया। (३) दिव्य वातावरण। (४) दिव्य संरक्षण। इन चार विशेषताओं से युक्त साधना स्थल की भावना बना लेने से प्रतीत होता है कि किसी दिव्य लोक में पहुँच कर साधना की जा रही है। उच्चस्तरीय योग साधना एवं तपश्चर्या के लिये दूरदर्शी लोग स्थान चयन पर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। भगवान राम ने तीनों भाईयों सहित साधना तपश्चर्या अयोध्या में नहीं हिमालय–उत्तराखण्ड में वशिष्ठ आश्रम के इर्द–गिर्द रहकर सम्पन्न की थी। हिमालय अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र है। जिस प्रकार पृथ्वी के ध्रुव क्षेत्र पर अन्तर्ग्रही अनुदानों का आदान–प्रदान होता है, उसी प्रकार हिमालय की व्यापक ब्रह्मचेतना के अनेकानेक अनुदान धरती पर बरसने एवं वहाँ से क्षेत्रों तथा व्यक्तियों को वितरण करने का सिलसिला चलता है। गंगा को स्वर्ग देवी माना गया है। भागीरथ के तप और शिव के जटा धारण अनुदान का जैसा समावेश गंगा में है, वैसा अन्यत्र और किसी नदी सरोवर में नहीं। गंगा और हिमालय के संयोग वाला क्षेत्र तपोवन कहलाता है। इसमें दिव्य वातावरण अभी भी भरा–पूरा देखा जा सकता है। देवात्मा हिमालय

उसी क्षेत्र को कहते हैं, जिसमें गंगा के सान्निध्य में एक विशिष्ट प्रकार की अध्यात्म चेतना का समावेश पाया जाता है। साधना की दृष्टि से यह क्षेत्र इस धरती पर अनुपम है।

प्रज्ञावतार की युगान्तरीय चेतना का अवतरण क्षेत्र भी यही है। उसे अध्यात्म गंगा का सामयिक अवतरण केन्द्र कहा जा सकता है। जिन्हें उस क्षेत्र में थोड़े समय भी साधना का अवसर मिलता है वे अनुपयुक्त वातावरण में रहकर चिरकाल तक भजन–पूजन करते रहने की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ उठा सकते हैं। किन्तु यह सुयोग हर किसी के लिये हर समय कहाँ सम्भव है। इसलिये प्रस्तुत ध्यान धारणा के लिये इतना तो किया ही जा सकता है कि उस समय अपनी उपस्थिति भावनापूर्वक शान्तिकुन्ज में मानी जाय। ध्यान का यह प्रथम चरण है, योगाभ्यास में ध्यान को प्रथम माना गया है। यहाँ आसन का अर्थ शीर्षासन आदि नहीं और न ऊन वस्त्र आदि के विवेचन से सम्बन्ध है वरन् उस स्थान के सम्बन्ध में संकेत है जहाँ बैठकर रहकर साधना की जाये। जो हर दृष्टि से पवित्र एवं प्रेरणाप्रद हो। उच्चस्तरीय ध्यान का आसन भावना द्वारा नियत निर्धारित किया जाना चाहिये। इसके लिये प्रज्ञा परिजनों के लिये 'प्रज्ञातीर्थ' से बढ़कर दूसरा स्थान नहीं हो सकता।

(१) गंगा की गोद (२) हिमालय की छाया (३) प्राचीन काल के ऋषियों और देवताओं की चिरकाल तपश्चर्या से भरा–पूरा दिव्य वातावरण, यह त्रिवेणी तो अपने आप में महत्वपूर्ण है ही। इसके अतिरिक्त चौथी विशेषता प्रज्ञातीर्थ शान्तिकुन्ज की एक और है जिसे कहीं अन्यत्र पाया जाना शक्य नहीं वह है (४) दिव्य संरक्षण। साधकों को यहाँ दुहरा संरक्षण मिलता है। प्रज्ञा युग की अभीष्ट ऊर्जा का प्रत्यक्ष उद्गम यहाँ है, परोक्ष उद्गम हिमालय के

ध्रुव केन्द्र में है । प्रज्ञातीर्थ में वह प्राण ऊर्जा प्रचुर परिमाण में अनायास ही उपलब्ध होती है, जो प्रज्ञा साधना को सफल बनाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण सहायता करती है । इसके अतिरिक्त प्रज्ञातीर्थ की सूत्र संचालक आत्माओं का प्रत्यक्ष मार्ग-दर्शन, सान्निध्य, सहयोग, अनुदान का ऐसा लाभ मिलता है, जिससे सफलता पथ पर अग्रसर होने में असाधारण सहायता मिल सके, यह संरक्षण पक्ष है । महत्वपूर्ण धर्मानुष्ठानों में संरक्षक नियुक्त किये जाते है । शान्तिकुञ्ज में ऐसे संरक्षण की प्रत्यक्ष व्यवस्था है । इसे गंगा की गोद-हिमालय की छाया-दिव्य वातावरण के अतिरिक्त दिव्य संरक्षण की चौथी उपलब्धि कह सकते हैं ।

अगली तीन ध्यान धारणाओं में से कोई भी की जाये ध्यान मुद्रा के उपरान्त सूक्ष्म शरीर से अपनी भावनात्मक उपस्थिति प्रज्ञातीर्थ-शान्तिकुञ्ज में अनुभव करनी चाहिये । यह धारणा जितनी बलवती होगी उतनी ही एकाग्रता बढ़ेगी तथा वैसी ही रसानुभूति होने लगेगी ।

इस प्रयोजन के लिये ध्यान मुद्रा के पाँच संकेत (१) शान्त चित्त (२) स्थिर शरीर (३) कमर सीधी (४) हाथ गोदी में (५) आँखें बन्द-कार्यान्वित किये जाते हैं । ध्यान मुद्रा बन जाने के उपरान्त अपनी उपस्थिति प्रज्ञातीर्थ में सूक्ष्म शरीर से पहुँचने की भावना की जाये और वहाँ की विशेषताओं को इन चार 'काशनों' के साथ स्मरण किया जाये ।

(१) गंगा की गोद
(२) हिमालय की छाया
(३) प्रज्ञातीर्थ का दिव्य वातावरण
(४) प्राण ऊर्जा का प्रखर संरक्षण

(१) प्रथम ध्यान–प्राणाग्नि–कुण्डलिनी

–गायत्री मन्त्र–एक साथ

भूमिका–

–स्थूल शरीर । प्राण विद्‌युत का उभार । प्राण–विद्‌युत–कुण्डलिनी ।

–कुण्डलिनी–जीवट, जिजीविषा–प्रतिभा–प्रखरता ।

–प्राण–उभार–साहस, श्रम, पौरुष, संकल्प, उल्लास पराक्रम ।

–प्राण पराक्रम–ध्रुव, प्रहलाद, परशुराम, अशोक, शुकदेव, विभीषण, हनुमान, अर्जुन, दधीच, भगीरथ जैसा ।

आरम्भ––सावधान । शान्त चित्त । स्थिर शरीर । कमर सीधी । हाथ गोदी में । आँखें बन्द । ध्यान मुद्रा । भाव–समाधि ।

–गंगा की गोद–हिमालय की छाया ।

–प्रज्ञातीर्थ का दिव्य वातावरण–प्राण ऊर्जा का प्रखर संरक्षण ।

–हिमालय का सर्वोच्च शिखर । हिमाच्छादित । अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र ।

–उफान–तूफान । दिव्य प्राण विद्युत का । प्राण विद्युत श्वेत बादलों सी ।

–प्रवाह । साधक तक । हिमालय से साधक तक ।

–प्रवेश–प्राण विद्युत का । मूलाधार चक्र में–नाभि चक्र–मध्य केन्द्र–स्थूल शरीर का ।

–हलचल । पुलकन । थिरकन । मूलाधार चक्र में । नाभि चक्र में । हिमालय की प्राण धारा से ।

–प्राणधारा–मूलाधार से सहस्रार तक । सहस्रार से मूलाधार तक । मूलाधार से सहस्रार तक । मार्ग–मेरुदण्ड ।

–मंथन, मंथन, मंथन । मूलाधार से सहस्रार तक–सहस्रार से मूलाधार तक–मंथन ।

–समुद्र–मंथन । जीवन–मंथन । प्राण–मंथन । अग्नि–मंथन । शक्ति मंथन ।

–मंथन से ऊर्जा की उत्पत्ति । अग्नि शिखा की जागृति ।

–अग्नि शिखा–प्राणज्वाला । प्राणज्वाला–कुण्डलिनी । कुण्डलिनी–प्राणाग्नि–योगाग्नि ।

–ऊर्ध्वगमन–कुण्डलिनी का । मूलाधार से सहस्रार तक–सहस्रार से मूलाधार तक ।

–मूलाधार से सहस्रार तक । मेरुदण्ड मार्ग । मूलाधार भूलोक । सहस्रार–ब्रह्मलोक । मेरुदण्ड–देवयान ।

–अग्नि–शिखा–कुण्डलिनी–संव्याप्त समस्त काय कलेवर में ।

–नस–नस में प्राणाग्नि–कुण्डलिनी ।

–कण–कण में प्राणाग्नि कुण्डलिनी ।

–रोम–रोम में प्राणाग्नि कुण्डलिनी ।

–साधक–अग्नि पिण्ड–प्राण पुञ्ज ।

–प्राण–पुञ्ज–प्राणवान । ओजवान । शक्तिवान् समर्थ–प्रखर । हिमालय की प्राण धारा से अनुप्राणित । साधक ओजवान । शक्तिवान । प्राणवान ।

–पाँच बार ॐकार गुञ्जन । पाञ्चजन्य उद्घोष । अर्जुन का उद्बोधन । ॐ–ॐ–ॐ–ॐ–ॐ ।

–तीन शरीरों की तीन प्रार्थनायें–

असतो मा सद्गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

तमसो मा ज्योतिर्गमय ।

समाप्ति–शान्ति ।

द्वितीय ध्यान–दिव्य दृष्टि–प्रकाश ज्योति

गायत्री मंत्र का उच्चारण एक साथ करें ।

भूमिका–

–तीसरा नेत्र, आज्ञा चक्र, भूमध्य चक्र ।

–दिव्यज्योति, महाप्रज्ञा, ऋतम्भरा–दूरदर्शिता, विवेकशीलता–न्यायनिष्ठा ।

–विवेक, दिव्य चक्षु ।

–तीसरा नेत्र, शिव का कामदहन, महाकाली का त्रिशूल, त्रिशूल–असुर निकन्दन ।

–तीसरा नेत्र–जागृति, संजय गान्धारी, दमयन्ती जैसा ।

–आज्ञा चक्र, टेलिस्कोप–दूरदिर्शता, टेलीविजन–विश्व–दर्शन–दूरदर्शन, राडार–पूर्वाभास, एक्स–रे–अदृश्य दर्शन, माइक्रोस्कोप–सूक्ष्म दर्शन, तीसरा नेत्र–आज्ञा चक्र, आज्ञा चक्र–टेलिस्कोप, टेलीविजन, राडार, एक्स–रे, माइक्रोस्कोप समन्वय ।

–दिव्य दृष्टि–महाप्रज्ञा, महाप्रज्ञा–कल्प वृक्ष, तीसरा नेत्र ज्योतिवान, हिमालय की ज्योतिधारा से अनुप्राणित ।

आरम्भ–

–सावधान, शान्त–चित्त, स्थिर शरीर, कमर सीधी, हाथ गोद में, आँखें बन्द, ध्यान मुद्रा, भाव समाधि ।

–गंगा की गोद, हिमालय की छाया ।

–प्रज्ञा तीर्थ का दिव्य वातावरण–प्राण ऊर्जा का प्रखर संरक्षण ।

–हिमालय का सर्वोच्च शिखर, हिमाच्छादित, अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र ।

—स्वर्णिम सूर्योदय, हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर स्वर्णिम सूर्य—सविता, गायत्री का प्राण सविता ।

—प्रवेश ज्योति किरणों का, साधक के आज्ञा चक्र में आज्ञा चक्र—तीसरा नेत्र, सूक्ष्म शरीर में ।

—आज्ञा चक्र ज्योतिवान, तीसरा नेत्र तेजवान, हिमालय की दिव्य किरणों से अनुप्राणित ।

—दिव्य ज्योति—प्रज्ञा, प्रज्ञा—ऋतम्भरा, ऋतम्भरा—सत्व दृष्टि, दिव्यदृष्टि नस—नस में ज्योति, कण—कण में ज्योति, रोम—रोम में ज्योति, दिव्य ज्योति प्रज्ञा ।

—साधक ज्योति पिण्ड—तेज पुञ्ज—प्रज्ञा पुञ्ज ।

—स्थूल शरीर—ज्योतिवान, सूक्ष्म शरीर—ज्योतिवान, कारण शरीर—ज्योतिवान ।

—रक्त ज्योतिवान, मांस ज्योतिवान, अस्थि ज्योतिवान, स्थूल शरीर ज्योतिवान, हिमालय की ज्योतिधारा से अनुप्राणित ।

—मन ज्योतिवान, अन्तःकरण ज्योतिवान, अन्तरात्मा ज्योतिवान, कारण शरीर ज्योतिवान ।

—स्थूल शरीर ज्योतिवान, सूक्षम शरीर ज्योतिवान, कारण शरीर ज्योतिवान ।

—पाँच ॐकार, पाञ्चजन्य उद्बोधन । ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

—तीन शरीर—तीन प्रार्थना ।

असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

तृतीय ध्यान–रसानुभूति अमृत–वर्षा

गायत्री मन्त्र का उच्चारण एक साथ करें ।

भूमिका–

–रस–स्नेह, सद्भाव–आत्मभाव ।

–रस–स्वर्ग, स्वर्ग–उत्कृष्ट चिन्तन ।

–रस–मुक्ति, मुक्ति–भव–बन्धनों से ।–भव–बन्धन–लोभ, मोह, दर्प ।

–अमृत–आत्मबोध, आत्मदर्शन, ब्रह्म सम्बन्ध ।

–अमृत–देवत्व, देवत्व करुणा, उदारता, अनुकम्पा ।

–अमृत–श्रद्धा, श्रद्धा–समर्पण ।

–अमृतमयी–अग्रदूत, अवतार, ऋषि, महामानव, सुधारक, शहीद

–अमृत–संतोष, उल्लास, आनन्द ।

आरंभ–

–सावधान, शान्त–चित्त, स्थिर शरीर, हाथ गोद में, आँखें बन्द, ध्यान मुद्रा, भाव समाधि ।

–गंगा की गोद, हिमालय की छाया ।

–प्रज्ञातीर्थ का दिव्य वातावरण ।

–प्राण ऊर्जा का प्रखर संरक्षण ।

–हिमालय का सर्वोच्च शिखर–हिमाच्छादित, अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र ।

–उफान–तूफान, दूध के झाग जैसा, श्वेत मेघमाला जैसा, मेघमाला–अमृत धारा ।

–लहरें–साधक तक, हिमालय से साधक तक ।

–प्रवेश हृदय चक्र में–ब्रह्म चक्र में–कारण शरीर में ।

–अमृत वर्षा–अनन्त अन्तरिक्ष से, घनघोर अमृत वर्षा, घटाटोप अमृत वर्षा ।

–शीतल, सुरभित–सरस–अमृत वर्षा ।

–त्रिपदा की स्नेह वर्षा–सविता की स्नेह वर्षा, स्नेह वर्षा, शक्ति वर्षा, अमृत वर्षा ।

–अमृत–स्नेह–सौजन्य ।

–साधक रस–विभोर, आनन्द से सरावोर ।

–नस–नस में अमृत, कण–कण में अमृत, रोम–रोम में अमृत

–अमृत–समर्पण, एकत्व, अद्वैत, विलय, विसर्जन–भक्त का भगवान में विलय, विसर्जन, एकत्व, अमरत्व ।

–पयपान, सोमपान, अमृतपान ।

–पयपान–संतोष, सोमपान–उल्लास, अमृतपान–आनन्द ।

–रस विभोर, आनन्द से सरावोर, साधक का अन्तरात्मा–अमृत पान से ।

–परिवर्तन–साधक का–अमृत वर्षा से ।

–परिवर्तन–कायाकल्प ।

–परिवर्तन–क्षुद्रता का महानता में ।

–परिवर्तन–कामना का भावना में ।

–परिवर्तन–नर का नारायण में ।

–परिवर्तन–आत्म दर्शन–ब्रह्म दर्शन ।

–उपलब्धि–अमृत वर्षा की, तृप्ति–तुष्टि–शान्ति ।

–पुलकित–प्रमुदित, उल्लसित–अन्तरात्मा साधक का, अमृत वर्षा ।

–साधक रसविभोर–आनन्द से सरावोर।

–पाञ्चजन्य उद्‌बोधन, पाँच ॐ कार । ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

–तीन शरीर की तीन प्रार्थना ।

असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

सम्मिश्रित साधना

स्थूल शरीर के लिये प्राण ऊर्जा, सूक्ष्म शरीर के लिये दिव्य दृष्टि, कारण शरीर के लिये रस वर्षा की तीन साधनाओं का विधि- विधान प्रस्तुत किया गया । अनुभव के आधार पर जो अनुकूल लगे, जिसमें स्थिरता आये वह साधना को स्थायी रूप से अभ्यास में सम्मिलित कर सकते हैं । हर रोज सम्भव न हो तो भी सप्ताह में एक बार यह ध्यान धारणा की जा सकती है । जहाँ प्रज्ञा संस्थान हों, वहाँ नियमित रूप से साप्ताहिक क्रम चलाया जा सकता है । ऋतु और सुविधानुसार प्रातःकाल या सायंकाल यह साधना की जा सकती है । एक दिन में दो बार करने की जरूरत नहीं है ।

ऐसा भी हो सकता है कि तीनों का एक संयुक्त मिश्रण बनाया जाय और संतुलित आहार की तरह मिश्रित साधना क्रम में कमी मात्र इतनी है कि जो उद्देश्य ध्यान में रखा गया था, उसकी सम्पूर्ण नहीं पर आंशिक पूर्ति हो सकेगी । दूसरी ओर लाभ भी है । इससे जीवन के तीनों क्षेत्रों की प्रगति एक साथ होने लगेगी । कोई प्रसंग उपेक्षित नहीं रहेगा । इस तरह लाभ और हानि को देखते हुए सम्मिलित साधना ज्यादा सुविधाजनक प्रतीत होगी । यदि लम्बे समय तक सम्मिलित साधना करने का क्रम बनाया जायेगा, तो तीनों शरीरों में धीमी प्रगति का कार्यक्रम एक साथ चलता रहेगा ।

जिनको यह सम्मिलित साधना उपयुक्त लगे उनको साधना का समय बढ़ाना चाहिये ।

संयुक्त ध्यान धारणा–

–सावधान, शान्त–चित्त, स्थिर शरीर, कमर सीधी, हाथ गोद में, आँखें बन्द, ध्यान मुद्रा, भाव समाधि ।

–गंगा की गोद, हिमालय की छाया, प्रज्ञा तीर्थ का दिव्य वातावरण, प्राण ऊर्जा का प्रखर संरक्षण ।

–हिमालय का सर्वोच्च शिखर, हिमाच्छादित, अध्यात्म का ध्रुव केन्द्र ।

–स्वर्णिम सूर्योदय, हिमालय के सर्वोच्च शिखरों पर स्वर्णिम सूर्य–सविता, गायत्री का प्राण सविता ।

–सविता की स्वर्णिम किरणें हिमालय से साधक तक, किरणें–दिव्य ज्योति, प्राण ऊर्जा, प्रखर प्रज्ञा ।

–प्रवेश–ज्योति धारा, साधक के आज्ञा चक्र में ।

'–आज्ञा चक्र प्राणवान, तीसरा नेत्र–प्रज्ञावान, प्रज्ञा–दिव्य ज्योति ।

–नस–नस में ज्योति, कण–कण में ज्योति, रोम–रोम में ज्योति ।

–साधक ज्योति पिण्ड, प्राण पुञ्ज, प्रज्ञा पुञ्ज ।

–स्थूल शरीर–ज्योतिवान, सूक्ष्म शरीर–ज्योतिवान, कारण शरीर–ज्योतिवान ।

–रक्त ज्योतिवान, मांस ज्योतिवान, अस्थि ज्योतिवान, स्थूल शरीर ज्योतिवान ।

–मन ज्योतिवान, बुद्धि ज्योतिवान, सूक्ष्म शरीर ज्योतिवान ।

–अन्तर्जगत ज्योतिवान, अन्तःकरण ज्योतिवान, अन्तरात्मा ज्योतिवान, कारण शरीर ज्योतिवान ।

–साधक ओजवान, प्राणवान, प्रज्ञावन, तेजवान ।

–अमृत वर्षा, अनन्त अन्तरिक्ष से साधक पर अमृत वर्षा ।

—त्रिपदा की स्नेह वर्षा, सविता की शक्ति वर्षा, अन्तरिक्ष से अमृत वर्षा ।

—रस विभोर, आनन्द से सरावोर, अन्तरात्मा साधक की ।

—सोमपान, रसपान, अमृतपान ।

—परिवर्तन साधक का, हिमालय की शक्तिधारा से । परिवर्तन कायाकल्प ।

—परिवर्तन क्षुद्रता का महानता में ।

—परिवर्तन कामना का भावना में ।

—परिवर्तन नर का नारायण में ।

—परिवर्तन पुनर्जीवन, उपलब्धि अमृत ।

—वर्षा की तृप्ति, तुष्टि, शोन्ति ।

—पाञ्चजन्य उद्‌घोष, पाँच बार ॐ कार गुञ्जन ।

—प्रार्थना—

असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय ।।
ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा

मिशन की पत्रिकाएँ

122

(१) अखण्ड ज्योति (मासिक)

(धर्म एवं अध्यात्म के तत्त्वज्ञान का विज्ञान एवं तर्क-तथ्य-प्रमाण की कसौटी पर खरा चिंतन)

वार्षिक शुल्क-108.00, आजीवन शुल्क-2000.00 रुपया।

अखण्ड ज्योति अंग्रेजी (द्वि-मासिक)

वार्षिक शुल्क-78.00 रुपया

पता : अखण्ड ज्योति संस्थान, घीयामण्डी, मथुरा-281003

फोन : (0565) 2403940

(२) युग निर्माण योजना (मासिक)

(व्यक्ति, परिवार, समाज निर्माण एवं सात आंदोलनों की मार्गदर्शक पत्रिका)

वार्षिक शुल्क-54.00, आजीवन शुल्क-1000.00 रुपया।

युग शक्ति गायत्री (गुजराती मासिक)

(गायत्री महाविज्ञान, धर्म, अध्यात्म एवं युगानुकूल विचार परिवर्तन का मार्गदर्शन)

वार्षिक शुल्क-85.00, आजीवन शुल्क-1800.00 रुपया।

पता : युग निर्माण योजना, गायत्री तपोभूमि, मथुरा-281003

फोन : (0565) 2530128, 2530399

फैक्स : (0565) 2530200

(३) प्रज्ञा अभियान (पाक्षिक)

(युग निर्माण मिशन के क्रियाकलापों एवं मार्गदर्शन का समाचार-पत्र)

वार्षिक शुल्क-30.00 रुपया।

पाक्षिक वीडियो पत्रिका : युग प्रवाह

(युग निर्माण मिशन के प्रमुख क्रियाकलापों की दृश्य-श्रव्य जानकारी)

वार्षिक शुल्क-1500.00 रुपया।

पता : शांतिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखंड) फोन : 01334-260602

SA 08